अध्याय—3

स्वामी विवेकानन्द

[SWAMI VIVEKANANDA]

जीवन-वृत्त

(LIFE-SKETCH)

देश की राजनीतिक चेतना के साथ-साथ सांस्कृतिक तथा धार्मिक भावनाओं के विकास में अपना बलिष्ठ कन्धा लगाने वालों में स्वामी विवेकानन्द का नाम विशेष रूप से स्मरणीय है। स्वामी विवेकानन्द ने जनता को अनुद्योग, आलस्य, अकर्मण्यता के स्थान पर उद्योग, परिश्रम और कर्मण्यता का पाठ पढ़ाया। धार्मिक कृत्यों में प्राचीन विचारधारा के स्थान पर तथा आडम्बरपूर्ण अर्चना के स्थान पर नवीन मानसिक पूजा को महत्त्व दिया। रूढ़िवाद की पुरातन छिन्न-भिन्न शृंखलाओं को नष्ट करके जनता को धर्म के मूल तत्त्वों को समझाया। जाति वैषम्य, अस्पृश्यता और भेदभाव से दुःखी हिन्दू जनता धर्म का परिवर्तन करती जा रही थी। स्वामी विवेकानन्द ने जातिवाद और वैषम्यवाद की विचारधाराओं को समाज में से जड़ सहित उखाड़ फेंक देने का सबल प्रयत्न किया। सब बातों के अतिरिक्त देश की स्वतन्त्रता के महान् उद्घोषकों में भी विवेकानन्द का प्रमुख स्थान है। अमूल्य रत्नों से परिपूर्ण जाज्वल्यमान भारत वसुन्धरा का अंचल कितना पवित्र, कितना सौभाग्यशाली और अनोखा है यह किसी से छिपा नहीं है। यह रत्नगर्भा भारत भूमि अपने अन्तर में जहाँ असंख्य मणि-मुक्ताएँ छिपाए बैठी है वहीं उसके अंचल में समय-समय पर ऐसे नवरत्न पैदा हुए हैं जिनकी जीवन-ज्योति से जगतीतल जगमगा उठा, जिन्होंने चट्टान बनकर समय का प्रवाह रोक दिया, जो अपने लिए नहीं वरन् विश्व के लिए जिए और जिनके पवित्र तेज के समक्ष समस्त अमानवीय एवं अपावन विचारों ने घुटने टेक दिए। माँ भारती के ये अमर पुत्र अपने पूर्वजों की थाती सँभाल, अतीत का ज्योति-कलश ले, साधना के पथ पर बढ़े तो पथ की बीहड़ता, उसका अन्धकार सब कुछ स्वयमेव नष्ट हो गया। मंजिल, आरती के लिए स्वागत में खड़ी मिली। उनंका जीवन आज भी सफलता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचकर वह ज्ञानज्योति बिखेर रहा है जिसके प्रकाश पर संसार सब-कुछ न्यौछावर करने को सन्नद्ध है। ऐसे विलक्षण पुरुष भारत में एक-दो नहीं हुए हैं। इनकी एक विशाल मालिका है। इस दिव्य मालिका के एक ज्योतिर्मान् रत्न हैं स्वामी विवेकानन्द जी।

12 जनवरी, 1863 ई. की पौष संक्रान्ति, जब प्रकृति में संक्रान्ति हो रही थी, भगवान् भास्कर अपनी राह बदल रहे थे—इस बेला में बंगाल प्रान्त के कलकत्ता के सिमुलिया पल्ली में प्रसिद्ध वकील विश्वनाथ दत्त के घर में, सूर्योदय के कुछ क्षण पूर्व 6 बजकर 50 मिनट पर एक शिशु जन्मा। दत्त-गृह आनन्द से भर गया। मंगल वाद्य बज उठे। वीरेश्वर शिव की भक्ति से पुत्र प्राप्त होने के कारण माता ने उसका नाम वीरेश्वर रखा। प्यार में उन्हें घर में 'बिले' के नाम से पुकारा जाता था। नामकरण के समय उनका नाम 'नरेन्द्रनाथ' रखा गया। बचपन में नरेन्द्र बहुत ही चंचल थे। उछल-कूद, शोर-गुल का अन्त न था। उनकी देखभाल के लिए दो नौकरानियाँ रखी गई थीं। नरेन्द्रनाथ की स्मरण-शक्ति अत्यन्त प्रखर थी। सात वर्ष की अवस्था में कृतिवास की बंगला रामायण उन्हें कण्ठस्थ थी।

सन् 1879 ई. में प्रथम श्रेणी में प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण कर नरेन्द्र प्रेसीडेन्सी कॉलेज में प्रविष्ट हो गये। किन्तु एक वर्ष बाद वह जनरल एसेम्बली कॉलेज में चले गये। नरेन्द्र ने अंग्रेजी तथा बंगला का अच्छा अध्ययन किया। विद्यार्थी जीवन में नरेन्द्र अपने व्यक्तित्व के कारण सबके प्रिय बन गये। चरित्रहीन विद्यार्थी उनसे भयभीत रहा करते थे। वे किसी को भी दुर्व्यवहार करते देख उसका घोर विरोध करते थे। व्यायाम, कुश्ती, क्रिकेट में उन्हें रुचि थी। विलासी छात्रों की वे आलोचना करते थे।

नरेन्द्रनाथ का हृदय धर्म भाव से परिपूर्ण था। सत्य प्राप्ति के लाभ की इच्छा से वे ब्रह्म समाज में आने-जाने लगे। बी. ए. परीक्षा की समाप्ति होने पर उनके पिता ने एक धनी पिता की पुत्री के साथ नरेन्द्र का विवाह निश्चित कर दिया। नरेन्द्र विवाह न करने का निश्चय कर चुके थे, अतः उन्होंने इसका विरोध किया। अकस्मात् विश्वनाथ जी परलोक सिधार गये। विवाह का प्रसंग समाप्त हो गया।

विश्वनाथ जी बहुत धन कमाते थे लेकिन वे कुछ नहीं छोड़ गये। अत: भाई, बहनों एवं माँ का भरण-पोषण नरेन्द्रनाथ के लिए कठिन हो गया था। आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ गयी, लेकिन नरेन्द्रनाथ ने किसी से चूँ तक न की। उन्होंने मित्रों की आर्थिक सहायता को अस्वीकार कर दिया। सुख की गोद में पले नरेन्द्रनाथ दरिद्रता की चरम सीमा पर पहुँच गये। फटा जूता पहनकर एक चादर से बदन ढक इधर-उधर घूमते रहते थे।

सन् 1887 ई. में नरेन्द्रनाथ ने संन्यास ग्रहण कर लिया। धर्मशास्त्र, विज्ञान, इतिहास आदि विषयों की आलोचना करके नरेन्द्र ने अपने मित्रों को पारंगत बना दिया। नरेन्द्रनाथ के मधुर कण्ठ से भजन सुनकर उनके गुरु भाई हरि प्रेम में मग्न होकर नाचने लगते थे। सन् 1888 में नरेन्द्र परिव्राजक के रूप में भ्रमण के लिए निकल पड़े। काशी, अयोध्या, लखनऊ, आगरा होकर पैदल वृन्दावन गये। वे जहाँ भी जाते वहीं लोग उनके तेजोमय रूप को देखकर आकृष्ट हो जाते थे। अब उन्होंने अकेले घूमना शुरू किया। हिमालय से कन्याकुमारी तक भ्रमण करके इन्होंने प्रत्येक स्थान पर वहाँ की जनता को अपनी विद्वता, तेज और ज्ञान से प्रभावित किया।

स्वामी विवेकानन्द सन् 1893 ई. में विश्व-भ्रमण पर निकल पड़े। अमेरिका के शिकागो नगर में सर्व धर्म सम्मेलन हुआ। वहाँ पर रोमन कैथोलिक ईसाइयों ने अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए इस धर्म सभा का आयोजन किया। उसमें संसार के सभी प्रमुख धर्मों के प्रतिनिधियों को बुलाया गया। मद्रास के नवयुवक स्वामीजी की प्रतिभा से मुग्ध होकर उनसे हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में अमेरिका जाने का अनुरोध करने लगे। स्वामीजी अमेरिका गये और धर्म सभा में सम्मिलित हुए।

स्वामीजी ने वहाँ पर अपना भाषण 'अमेरिकावासी भाइयो व बहनो' कहकर शुरू किया। इन शब्दों को सुनकर आठ हजार लोग ताली बजाकर आनन्द ध्वनि करने लगे। स्वामीजी के भाषण से पाश्चात्य जगत् के लोगों के हृदय में प्रथम बार मानव जाति के एकत्व की अनुभूति उत्पन्न हुई। इनके भाषण से हिन्दू धर्म की विजय पताका पाश्चात्य देशों में फहराने लगी। स्वामीजी के आदर्शों से प्रभावित होकर अनेक शिक्षित लोग उनके कार्य में सहायता करने के लिए संन्यासी हो गये।

अपनी उन्नति एवं विकास के कारण गर्वीले अमेरिकावासी पागलों की भाँति स्वामीजी के पीछे-पीछे घूम रहे थे। सारा अमेरिका उनके चरणों पर लोट गया। हिन्दू संस्कृति का अतीत उनके माध्यम से श्रोताओं के समक्ष साक्षात् खड़ा हो गया। उन्होंने युवकों को सन्देश दिया कि हमें मातृभूमि की पूजा करनी चाहिए। उनकी सभा में युवक ऐसे जमते थे कि उठने का नाम ही न लेते। स्वामीजी विजयी वीर की तरह उन पर अपना प्रभाव छोड़ते जा रहे थे। उन्होंने अपने देश के नवयुवकों को सन्देश देते हुए कहा कि यदि इस पृथ्वी पर कोई ऐसा देश है जो मंगलमयी पुण्य भूमि कहलाने का अधिकारी है; ऐसा देश जहाँ संसार के समस्त जीवों को अपना कर्मफल भोगने के लिए आना ही है; ऐसा देश जहाँ ईश्वरोन्मुख प्रत्येक आत्मा को अपना अन्तिम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए पहुँचना अनिवार्य है; ऐसा देश जहाँ मानवता ने ऋजुता, उदारता, शुचिता एवं शान्ति का चरम शिखर स्पर्श किया हो—तथा इन सबसे आगे बढ़कर भी जो देश अन्तर्दृष्टि एवं आध्यात्मिकता का घर हो—तो वह देश भारत ही है।

रामकृष्ण मिशन की स्थापना

स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना 1 मई, सन् 1897 ई. में की थी, रामकृष्ण मिशन मूल रूप से अध्यात्मवाद और मानवतावाद पर आधारित है। इसके प्रमुख तीन कार्य हैं—प्रथम गरीबों की हर प्रकार से सहायता, दूसरी वेदान्त और स्वामी रामकृष्ण की शिक्षाओं का प्रभावशाली ढंग से प्रचार तथा अन्तिम है जनकल्याण के लिए शिक्षा की व्यवस्था।

रामकृष्ण मिशन द्वारा लोकमंगल के लिए की गयी शिक्षा-व्यवस्था स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा सम्बन्धी विचारों से बहुत प्रभावित है।

रामकृष्ण मिशन ब्रह्म समाज और आर्य समाज की तरह कोई हिन्दुत्व का विशेष पंथ नहीं है और न कोई सम्प्रदाय है। यह एक संघ है जिसका मुख्य उद्देश्य वेदान्त धर्म का प्रचार तथा मानवता के कल्याण के लिए उपदेश देना है। संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदान्त सम्बन्धी शिक्षा का प्रसार करना और निस्वार्थ होकर हरिजन तथा निर्धनों की सेवा करना भी है। मानव सेवा और मानव कल्याण इसके परम धर्म हैं।

रामकृष्ण मिशन के निम्नलिखित प्रमुख उद्देश्य हैं—

1. वेदान्त ज्ञान के अध्ययन एवं दर्शन का सन्देश घर-घर पहुँचाना।

2. मानव सेवा और मानव कल्याण की भावना का प्रचार करना तथा व्यक्तियों को प्रेरित करना कि वे मानव सेवा कार्य में निःस्वार्थ भाव से भाग लेंगे।

3. सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षित और दीक्षित करना।

4. हरिजन तथा निर्धन व्यक्तियों की सेवा करना।

5. सभी धर्मों के व्यक्तियों में सद्‌भावना, प्रेम तथा भाईचारे की भावना को बढ़ाना।

6. अध्यापकों का प्रशिक्षण तथा उन्हें जनता तक पहुँचाने में समर्थ बनाना।

7. कला, विज्ञान और औद्योगिक विषयों के अध्ययन की उन्नति तथा उनकी शिक्षा का प्रसार करना।

8. विद्यालयों, कॉलेजों, अनाथालयों, कारखानों, प्रयोगशालाओं तथा अस्पतालों आदि की स्थापना, उनका संचालन तथा उनकी सहायता करना।

9. शिक्षण कार्यों की उन्नति के लिए पुस्तक, पुस्तिकाओं का मुद्रण, प्रकाशन और विक्रय करना।

10. मानवतावादी विचारों का प्रसार व प्रचार करना।

रामकृष्ण मिशन की कई सौ शाखाएँ आज भारत के सभी प्रदेशों में फैली हुई हैं। वे वेदान्त की शिक्षा के साथ ही स्कूल, कॉलेज, अस्पताल आदि चलाती हैं। भारत के अतिरिक्त बर्मा, श्रीलंका, फिजी, मारीशस, अमेरिका, दक्षिण अमेरिका, इंग्लैण्ड और फ्रांस में भी रामकृष्ण मिशन की शाखाएँ वेदान्त के प्रसार तथा संसार की भलाई का कार्य कर रही हैं।

वेदान्ती स्वामीजी

युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द एक सच्चे वेदान्ती थे। वेदान्त का शाब्दिक अर्थ है—'वेद का अन्त'। वेद के अन्तिम भाग को उपनिषद् कहा जाता है। स्वामीजी के अनुसार 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग वेदों के मध्य प्रकीर्ण दार्शनिक प्रकरण के लिए होता है। इन दार्शनिक प्रकरणों का संचालन हुआ, उसे वेदान्त या उपनिषद् या आरण्यक या रहस्य कहते हैं। इनकी संख्या 108 मानी जाती है। कभी-कभी उपनिषद् शब्द उन ग्रन्थों के लिए भी प्रयुक्त होता है जो वेद के अन्तर्गत नहीं आते जैसे गीता। वेदान्त दर्शन की संक्षिप्त विशेषता है—'एकै सद्विप्रा बहुधावदन्ति' 'उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरात्रिबोधत', 'ब्रह्म सत्यजगन्मिथ्या' आदि। वेदान्त दर्शन के तीन व्याख्याकारों अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत एवं द्वैतवाद में से स्वामीजी अद्वैतवाद के समर्थक थे। परन्तु सभी व्याख्याकार वेदों के श्रुत रूप, सृष्टिचक्र एवं ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। स्वामीजी ने—सृष्टि, ईश्वर, आत्मा, आत्मानुभूति, संन्यास, भक्ति योग आदि अनेकानेक विषयों पर अपना मौलिक विचार व्यक्त किया है।

उनका वेदों और उपनिषदों पर अटूट विश्वास था। उन्होंने भारत तथा भारतेतर देशों में वेदान्त दर्शन को सार्वजनीन, सार्वभौमिक, दर्शन के रूप में प्रचारित, प्रसारित किया। इस हेतु स्वामीजी ने रामकृष्ण मिशन मठ एवं वेदान्त सोसायटी की भी स्थापना की। उन्होंने वेदान्त दर्शन की पुनर्व्याख्या आधुनिक परिप्रेक्ष्य में की। स्वामीजी के नव्य वेदान्त दर्शन में आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक खोजों तथा समकालीन विचारों की अवहेलना नहीं की गई है। क्योंकि उनका विश्वास था कि आध्यात्मिक उन्नति के पूर्व देश की भौतिक उन्नति एवं समृद्धि आवश्यक है। उन्होंने अपने दार्शनिक विचारों में सर्वत्र समकालीन भारत की सामाजिक समस्याओं पर गहन चिन्तन किया और निराशा एवं कुण्ठा के दलदल में फँसी हुई भारतीय जनता को जीवन का नवीन पथ दिखाया। वे प्रायः कहा करते थे—रोटी का प्रश्न हल किये बिना भूखे मनुष्य धार्मिक नहीं बनाये जा सकते। इसलिए रोटी का प्रश्न हल करने का नया मार्ग बताना सबसे मुख्य और सबसे पहला कर्त्तव्य है। उन्होंने व्यष्टि और समष्टि का समन्वय किया तथा सर्वांग दृष्टिकोण लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया। क्योंकि उनका मूलमन्त्र था—'सहायता न कि विरोध', 'दूसरे के भावों को आत्मसात करना न कि विनाश', 'समन्वय और शान्ति न कि कलह"।

एक वेदान्ती होने के नाते यद्यपि वे आदर्शवादी चिन्तक थे परन्तु जब वे वेदान्त दर्शन को व्यावहारिक रूप में देते थे तो ऐसी स्थिति में उनके विचार प्रकृतिवादी, यथार्थवादी, प्रयोजनवादी तथा समाजवादी विचारों से मिलते-जुलते हैं। वे प्रायः कहा करते थे—मैं समाजवादी हूँ—इसका अर्थ है—समाज के सभी व्यक्तियों को धन, विद्या और ज्ञान का उपार्जन करने के लिए एक समान अवसर मिलना चाहिए जो सामाजिक नियम इस स्वतन्त्रता के विकास के मार्ग में बाधक हैं, वे हानिकारक हैं और उनको नष्ट करने का उपाय भी शीघ्रता से करना चाहिए।

वेदान्त दर्शन को व्यावहारिक स्वरूप देने के नाते वे सम्पूर्ण मानवता का कल्याण करना चाहते थे। उनके द्वारा व्यक्त विचार एवं किये गये कार्य अपने में अद्वितीय हैं। वे गरीब, अशिक्षित, असहाय, पंगु, मूक-बधिर, उपेक्षित तथा अनाथ की सेवा ही ईश्वर की सच्ची सेवा मानते थे। इन्हीं विचारों को कार्यरूप देने के कारण उन्होंने मठों, मिशनों, आश्रमों, अनाथालयों, शिक्षण संस्थाओं, अस्पतालों आदि की स्थापना भारत तथा भारतेतर देशों में की। इन कार्यों के अतिरिक्त वे समय-समय पर पुस्तक लेखन, व्याख्यान, सम्भाषण, वार्तालाप, गोष्ठी, विचार-विमर्श, पत्रिका प्रकाशन, प्रवचन, काव्य-रचना, संस्मरण तथा पत्र लेखन भी करते रहे। उनके तथा उनकी प्रेरणा से स्थापित भारत में 88 तथा विदेशों में 31 केन्द्र कार्य कर रहे हैं। इसके साथ ही इस समय प्राथमिक, माध्यमिक, उच्चतर महाविद्यालय, शिक्षण-प्रशिक्षण केन्द्र, कृषि संस्थान तकनीकी व प्रौद्योगिकी केन्द्र, व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र, शारीरिक शिक्षा महाविद्यालय, वाणिज्यिक संस्थान, पुस्तकालय, छात्रावास, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, बहुभाषिकी विद्यालय, अन्ध एवं बाल अपराधी विद्यालय, परिचारिका-प्रशिक्षण संस्था, बेसिक ट्रेनिंग स्कूल, पी. जी. बेसिक ट्रेनिंग कॉलेज, हास्पिटल, डिस्पेन्सरी, निःशक्त एवं निराश्रितालय, अनुतोष एवं पुनर्वास जैसी अनेकानेक संस्थाएँ समाज सेवा में कार्यरत हैं।

भारत के सम्बन्ध में स्वामीजी के विचार
(SWAMIJI'S VIEWS REGARDING INDIA)

स्वामीजी ने कहा है कि भारत का प्राचीन इतिहास अलौकिक उद्यम एवं उनके बहुविध प्रदर्शन, असीम उत्साह, विभिन्न शक्तियों की अप्रतिष्ठित क्रिया और प्रतिक्रिया के समन्वय तथा इन सबसे परे एक देव तुल्य जाति के गम्भीर चिन्तन की अपूर्व गाथा है। आर्य जाति के बारे में उन्होंने कहा कि यह जाति मध्य एशिया, उत्तरी यूरोप से धीरे-धीरे आगे बढ़ी और बढ़ते-बढ़ते अन्त में इसने भारत में बस कर उसे पवित्र बनाया।

भारत भूमि को आध्यात्मिकता का आदि स्रोत बताते हुए वे कहते हैं कि यही वह भूमि है जहाँ ज्ञान ने अन्य देशों में जाने से पूर्व अपनी आवास-भूमि बनाया था। यहीं सर्वप्रथम मानव प्रकृति के रहस्यों की जिज्ञासाओं के अंकुर उगे थे। यहीं आत्मा की अमरता, एक परमपिता परमेश्वर की सत्ता, प्रकृति और मनुष्य के भीतर ओत-प्रोत एक परमात्मा के सिद्धान्त सर्वप्रथम उठे और यहीं धर्म तथा दर्शन के उच्चतम सिद्धान्तों ने अपने चरम शिखर स्पर्श किए।

देवत्व प्राप्ति के लिए संघर्ष करते रहने की बात करते हुए उन्होंने कहा कि इस पुण्य भूमि पर चाहे जो खड़ा हो—वह इसी भूमि का पुत्र हो या विदेशी—यदि उसकी आत्मा दुर्दान्त पशुओं के स्तर तक नहीं गिर चुकी है तो वह स्वयं को पृथ्वी के इन श्रेष्ठतम एवं शुद्धतम पुत्रों के तेजोमय विचारों से घिरा हुआ अनुभव करेगा, जो शताब्दियों तक पशु को देवत्व के शिखर तक उठाने के लिए कार्य करते रहे हैं और उनका आरम्भ खोजने में इतिहास भी असफल रहा है। यह देश दर्शन, आध्यात्मिकता, नीतिशास्त्र एवं उनका पुण्य धाम है जो मनुष्य को पशुत्व के विरुद्ध उसके सतत् संघर्ष में विश्राम स्थल प्रदान करते हैं। यह देश वह साधना भूमि है जिसके द्वारा मनुष्य अपने कर्त्ता के आवरण को फेंककर अजर-अमर आदि अन्त-रहित आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है। ''यही देश है जहाँ सुखों का प्याला भरा रहा और उससे अधिक भरा रहा दुःखों का प्याला। यहीं मानवता के समुद्र में आनन्द और पीड़ा, सामर्थ्य और दौर्बल्य, वैभव और दारिद्रय, सुख और दुःख, हास्य और रुदन, जीवन और मृत्यु की शक्तिशाली लहरों के घात-प्रतिघात के आलोड़न के बीच दिव्य शक्ति और शाश्वत निस्तब्धता की तीव्र आकांक्षा में से वैराग्य का सिंहासन प्रकट हुआ। यही वह देश है जहाँ धर्म को व्यावहारिक एवं सच्चा रूप प्राप्त हुआ और केवल यहीं स्त्री तथा पुरुष धर्म के अन्तिम लक्ष्य का साक्षात्कार करने के लिए साहसपूर्वक कूद पड़े। बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार अन्य देशों में लोग जीवन के सुखों को लूटने के लिए पागल होकर कूद पड़ते हैं और अपने कमजोर बन्धुओं को लूट लेते हैं।''

उन्होंने कहा कि ''हम लोग सौम्य हिन्दू हैं क्योंकि सम्पूर्ण विश्व पर हमारी मातृभूमि का महान् ऋण है। एक-एक देश को लें तो भी इस पृथ्वी पर दूसरी कोई जाति नहीं है जिसका विश्व पर इतना ऋण है जितना कि इस सहिष्णु एवं सौम्य हिन्दू का। जब ग्रीस का अस्तित्व नहीं था, रोम भविष्य के अन्धकार गर्भ में छिपा हुआ था, आधुनिक यूरोपवासियों के पुरखे जंगल में रहते थे और अपने शरीरों को नीले रंग से रँगा करते थे, उस समय भी भारत में कर्मचेतना का साम्राज्य था। संसार की जातियों में केवल हम ही हैं जिन्होंने कभी दूसरों पर सैनिक विजय प्राप्ति का पथ नहीं अपनाया और इसी कारण हम आशीर्वाद के पात्र हैं।''

भारत देश को 'अमर भारत' की संज्ञा देते हुए **स्वामीजी** ने कहा कि "एक समय था जब ग्रीक सेनाओं के सैनिक संचालन के पदाघात से धरती काँपा करती थी किन्तु पृथ्वी तल पर से उसका अस्तित्त्व मिट गया। अब सुनाने के लिए उसकी एक गाथा ही शेष है। ग्रीकों का यह गौरव सूर्य सदा-सदा के लिए अस्त हो गया है। इसके अलावा कई अन्य गौरवशाली जातियाँ आयीं और चली गयीं। कुछ वर्ष उन्होंने बड़ी चमक-दमक के साथ गर्व से छाती फुलाकर अपना प्रभुत्व फैलाया, पर शीघ्र ही पानी के बुलबुलों के समान मिट गयीं। मानव जीवन पर ये जातियाँ केवल इतनी ही छाप डाल सकीं।

किन्तु आज भी हम जीवित हैं और आज भी हमारे पुराण, ऋषि, मुनि वापस लौट आयें तो उन्हें आश्चर्य न होगा; उन्हें ऐसा नहीं लगेगा कि किसी नये देश में गये हैं। यही वह भारतवर्ष है जो अनेन्क शताब्दियों तक शत-शत विदेशी आक्रमणों के आघातों को झेल चुका है। यही वह देश है जो संसार की किसी भी चट्टान से अधिक दृढ़ता के साथ अपने पौरुष एवं अमर जीवन-शक्ति के साथ खड़ा हुआ है। इसकी जीवन-शक्ति भी आत्मा के समान ही अनादि, अनन्त एवं अमर है। हमें ऐसे देश की सन्तान होने का गौरव प्राप्त है।"

स्वामीजी के धर्म सम्बन्धी विचार
(SWAMIJI'S VIEWS ABOUT RELIGION)

स्वामीजी कहते हैं कि प्राच्य और पाश्चात्य देशों में घूमकर मुझे दुनिया की कुछ अभिज्ञता मिली है और मैंने देखा कि सर्वत्र सब जातियों का कोई-न-कोई ऐसा आदर्श जरूर है जिसे उस जाति का मेरुदण्ड कह सकते हैं। हमारी मातृभूमि भारत का मेरुदण्ड धर्म है। धर्म के आधार पर, उसी नींव पर, हमारी जाति के जीवन का प्रासाद खड़ा है। संसार के अन्य देशों में धर्म तो केवल कई बातों में से एक है—असल में वहाँ वह तो एक छोटी-सी चीज गिना जाता है। उदाहरण के लिए, इंग्लैण्ड में धर्म राजनीति का केवल एक विशेष अंश है, इंगलिश चर्चशाही घराने की एक चीज है और इसलिए उनकी चाहे उसमें श्रद्धा भक्ति हो अथवा नहीं वे उसके सहायक बने रहेंगे।

परन्तु भारतवर्ष में धर्म ही राष्ट्र के हृदय का मर्मस्थल है। इसी को राष्ट्र की रीढ़ कह लीजिए अथवा नींव समझिए जिसके ऊपर राष्ट्र रूपी इमारत खड़ी है। उन्होंने कहा कि "मैं अभी इस विषय पर विचार नहीं कर रहा हूँ कि किसी जाति की जीवन-शक्ति राजनैतिक आदर्श पर प्रतिष्ठित होना अच्छा है अथवा धार्मिक आदर्श पर। परन्तु अच्छा या बुरा हमारी जाति की जीवन-शक्ति धर्म में ही केन्द्रीभूत है। इसे बदल नहीं सकते, न इसे विनष्ट ही कर सकते हैं। भारत में हजारों वर्षों से धार्मिक आदर्श की धारा प्रवाहित हो रही है। भारत का वायुमण्डल धार्मिक आदर्श से बीसियों सदियों तक पूर्ण रहकर जगमगाता रहा है। हम इसी धार्मिक आदर्श में पैदा हुए और पले हैं। यहाँ तक कि अब वह हमारे रक्त में मिल गया है, हमारे रोम-रोम में वही धार्मिक आदर्श रम रहा है, वह हमारे शरीर की बनावट का अंश हमारी जीवन-शक्ति बन गया है। जिस रास्ते में बाधाएँ कम हैं उसी रास्ते से हम काम कर सकते हैं और भारत के लिए धर्म का मार्ग ही स्वल्पतम बाधा वाला मार्ग है। बस धर्म का पथ अनुसरण करने पर ही हमारा जीवन निर्भर करता है। इसी से हमारी उन्नति में वृद्धि होना सम्भव है।"

स्वामीजी ने कहा कि हमें धर्म का आधार नहीं छोड़ना चाहिए। "याद रखो, यदि तुम पाश्चात्य भौतिकवादी सभ्यता के चक्कर में पड़कर आध्यात्मिकता का आधार त्याग दोगे तो उसका परिणाम होगा कि तीन पीढ़ियों में तुम्हारा जातीय अस्तित्त्व मिट जायेगा क्योंकि राष्ट्र का मेरुदण्ड टूट जायेगा, राष्ट्रीय भवन की नींव ही खिसक जायेगी। इन सबका परिणाम होगा—सर्वतोन्मुखी सत्यानाश। अत; मित्रो ! एक ही मार्ग शेष है कि हम अपने प्राचीन पूर्वजों से चली आयी अमूल्य विरासत आध्यात्मिकता की पकड़ को कदापि ढीला न होने दें। इसीलिए चाहे तुम्हारी आध्यात्मिकता में आस्था हो या न हो, राष्ट्रीय जीवन की रक्षा हेतु तुम्हें आध्यात्मिकता के आधार पर टिके रहना होगा। फिर दूसरा हाथ बढ़ाकर अन्य जातियों से जो कुछ लेना चाहो लो, किन्तु जो भी उनसे ग्रहण करो उसे अपने जीवन-आदर्शों के आधीन कर दो।"

शिक्षा का स्वरूप
(NATURE OF EDUCATION)

स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार किया है। यूरोप के अनेक नगरों का भ्रमण करते हुए उन्हें शिक्षा की भौतिक उपलब्धियाँ भी दिखाई पड़ीं। भारत की निर्धनता का एक कारण उन्होंने अशिक्षा को माना।

स्वामीजी तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली से दु:खी थे। उनका विचार था कि उस समय की शिक्षा मनुष्य में कोई गुण उत्पन्न नहीं करती। वह मनुष्य बनाने वाली शिक्षा है ही नहीं। उसमें कोई तत्त्व की बात दी ही नहीं जाती। उस शिक्षा को स्वामीजी ने निषेधात्मक शिक्षा कहा है। अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली में निषेधों पर बल दिया जाता था। उसमें हाथ-पैर से काम न करने पर, मातृभाषा का प्रयोग न करने पर, मौलिकता प्रदर्शित न करने पर बल था। अभावात्मक शिक्षा व्यक्ति को पंगु बना देती है, उसकी मौलिकता को कुण्ठित कर देती है और उसमें मनुष्यत्व के गुणों का विकास नहीं करती।

स्वामीजी के अनुसार शिक्षा को मात्र सूचना तक नहीं सीमित करना चाहिए। तमाम असम्बद्ध जानकारियों को मस्तिष्क में ठूँस देने से कोई लाभ नहीं। सूचना का अपने में कोई महत्त्व नहीं है। जो विचार जीवन-निर्माण में सहायक हों उनकी अनुभूति करना आवश्यक है। स्वामीजी के अनुसार केवल कुछ विचारों को रटकर डिग्री प्राप्त कर लेना शिक्षा नहीं है। विदेशी भाषा में कुछ रटकर अपने को शिक्षित समझने की भूल शिक्षा की जानकारी या सूचना तक सीमित रखने का परिणाम है। **स्वामीजी** के शब्दों में, ''यदि तुम केवल पाँच ही परखे हुए विचार आत्मसात् कर उनके अनुसार अपने जीवन और चरित्र का निर्माण कर लेते हो, तो तुम एक पूरे ग्रन्थालय को कण्ठस्थ करने वाले की अपेक्षा अधिक शिक्षित हो। यदि शिक्षा का अर्थ जानकारी ही होता, तब तो पुस्तकालय संसार में सबसे बड़े सन्त हो जाते और विश्वकोश के महान् ऋषि बन जाते।''

व्यक्ति में ज्ञान स्वत: निहित है। ज्ञान स्वयं सिद्ध है। जन्म के समय बालक में ज्ञानराशि स्वत: निहित है। ज्ञान बाहर से नहीं आता, वह तो अन्दर ही है। उस प्रच्छन्न ज्ञान को अनावृत्त करना है। बालक को अपने अन्दर निहित ज्ञान का अन्वेषण करना है। जब हम कहते हैं कि मनुष्य 'जानता' है तो इसका अर्थ है—वह खोजता है, प्रकट करता है। मन में ही सारा ज्ञान निहित है, बाहरी संसार सुझाव या प्रेरणा मात्र देता है, तब व्यक्ति अपने मन का ही अध्ययन करने के लिए प्रेरित होता है। न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के नियम का आविष्कार किया। यह गुरुत्वाकर्षण का नियम न तो सेव में था, न पृथ्वी के किसी केन्द्रीय पदार्थ में। यह तो न्यूटन के मन में था जिसे उसने अध्ययन करके प्रकट किया।

लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार का ज्ञान मानव-मन में निहित रहता है। यह प्राय: ढका रहता है। जब धीरे-धीरे आवरण हटता है तो कहा जाता है व्यक्ति सीख रहा है। जिसके मन से आवरण पूर्णत: हट जाता है उसे सर्वज्ञ कहा जाता है। मन में ज्ञान ऐसे ही निहित है। जैसे—चकमक पत्थर में चिनगारी। आत्मा से ही सारा ज्ञान उद्भूत होता है। अत: कोई किसी को ज्ञान नहीं दे सकता, न ही कोई किसी को सिखा सकता है। गुरु केवल प्रेरणा दे सकता है। अत: यह कहना अधिक उपयुक्त है कि बालक स्वयं अपने को सिखाता है। ज्ञान या दिव्य ज्योति इस प्रकार ढकी रहती है जैसे—लोहे की सन्दूक में बन्द दीपक। पवित्रता एवं त्याग भावना से आवरण हटता है और अवरोधक समाप्त होता है।

शैक्षिक उद्देश्य
(EDUCATIONAL AIMS)

बालक को इस प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे उसका चरित्र बने, बुद्धि का विकास हो, मानसिक शक्ति बढ़े और वह अपने पैरों पर खड़ा हो सके।

मन में समस्त झुकावों और सभी प्रकार की प्रकृतियों का समवाय चरित्र है। सुख-दु:ख व्यक्ति की आत्मा पर अपनी छाप छोड़ जाते हैं। इन सभी प्रकार की छापों की समष्टि चरित्र है। विचारों से ही मनुष्य बनता है। जब हम विचार करते हैं तो प्रत्येक विचार हमारे शरीर पर कुछ असर डाल देता है। जिस प्रकार हथौड़े की हल्की चोट भी लोहे पर प्रभाव डालती है। विचारों में सजीवता होती है। वाणी इतनी सजीव नहीं होती जितने सजीव विचार होते हैं। अत: शिक्षा द्वारा अच्छे विचारों का निर्माण होना चाहिए।

सुख-दु:ख—दोनों का चरित्र की दृष्टि से महत्त्व है। कभी-कभी दु:ख अधिक सबल शिक्षक होता है। भलाई-बुराई में जुदाई से कभी-कभी अधिक शिक्षा मिलती है। महापुरुषों की जीवनियाँ हमें बताती हैं कि महापुरुषों ने सुख की अपेक्षा दु:ख, सम्पत्ति की अपेक्षा दरिद्रता एवं प्रशंसा की अपेक्षा आघातों से ही अधिक शिक्षा ग्रहण की है। आध्यात्मिक अन्तर्ज्योति तो तभी प्रकाशित होती है जब व्यक्ति के हृदय में वेदना की टीस होती है और चारों ओर से तूफानों के बादल उमड़ पड़ते हैं।

उसमें बालक का प्रत्येक विचार व कार्य उसके मन पर एक संस्कार छोड़ जाता है। चरित्र का निर्माण इन्हीं संस्कारों से होता है। बुरे कर्म बुरे संस्कार छोड़ते हैं। जो व्यक्ति सदा बुरे शब्द सुनता है, बुरे विचार सोचता है, बुरे कार्य करता है, उसका मन बुरे संस्कारों से परिपूर्ण हो जाता है और वह कुसंस्कारों के हाथों का खिलौना बनकर बुरे कर्म कर डालता है। इसी प्रकार अच्छे शब्द सुनने वाला, अच्छे विचार सोचने वाला अच्छे संस्कार से युक्त हो जाता है और इच्छा न होते हुए भी वह सत्कार्य करने के लिए विवश हो जाता है। जब व्यक्ति संस्कारवश अच्छे कार्य करता है तभी उसका चरित्र गठित कहा जायेगा। यही चरित्र-गठन शिक्षा का उद्देश्य है।

चरित्र-गठन के लिए महान् कार्यों का ही महत्त्व नहीं है बल्कि बहुत छोटे-छोटे कार्यों का भी महत्त्व है। अतः चरित्र-गठन अच्छा तब कहा जायेगा जब व्यक्ति सदा सभी दशाओं में महान् कार्य करता रहता है।

मन पर पड़े हुए संस्कार आदत के रूप में परिणत हो जाते हैं। आदत को दूसरा स्वभाव कहा जाता है पर स्वामी विवेकानन्द के अनुसार वह प्रथम और समस्त स्वभाव है न कि दूसरा। अतः बुरी आदत को उसकी विरोधी आदत द्वारा सुधारा भी जा सकता है। सदा अच्छे कार्य करने से, पवित्र विचार करने से बुरी आदतों को वश में किया जा सकता है। बार-बार अभ्यास करने से चरित्र का गठन और पुनर्गठन किया जा सकता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि बुराइयों का कारण मनुष्य में ही निहित है, किसी दैवी सत्ता में नहीं। मनुष्य रेशम के कीड़े के समान है। वह अपने आप से ही सूत निकालकर कोष बना लेता है और फिर उसी में बन्द हो जाता है। कर्म का जाल हमारा अपना बुंना हुआ है। अतः इस जाल को बाहर की सहायता से नहीं नष्ट किया जा सकता। सहायता तो अन्दर से मिलती है।

हम दुर्बल हैं इसलिए त्रुटि करते हैं और हमारी दुर्बलता का कारण हमारा अज्ञान है। हमें अज्ञानी कोई बनाता नहीं, हम स्वयं ही अज्ञान के कारण हैं। अपनी इच्छा-शक्ति से हम अज्ञान पर विजय पा सकते हैं। **स्वामीजी** कहते हैं, ''हम अपनी आँखों को अपने हाथों से ढक लेते हैं और 'अन्धेरा है', 'अन्धेरा है', कहकर रोते हैं। हाथ हटा लो प्रकाश-ही-प्रकाश है। मनुष्य की आत्मा स्वभाव से ही स्वयं प्रकाश है। अतः हमारे लिए प्रकाश का अस्तित्त्व सदा ही है। आधुनिक वैज्ञानिक लोग क्या कहते हैं, क्या तुम नहीं सुनते ? क्रमविकास का कारण क्या है—इच्छा। जीवधारी कुछ करना चाहता है, परन्तु परिस्थिति को अनुकूल नहीं पाता, इसलिए नये शरीर का निर्माण कर लेता है। यह कौन निर्माण करता है ? स्वयं वही जीवधारी, उसकी इच्छा-शक्ति। अपनी इच्छा-शक्ति का प्रयोग करते रहो और वही तुम्हें ऊपर उठाती जायेगी। इच्छा-शक्ति सर्वशक्तिमान है। तुम पूछ सकते हो, यदि वह सचमुच सर्वशक्तिमान है, तो फिर मैं सब कुछ क्यों नहीं कर सकता ? पर तुम तो केवल अपनी क्षुद्र आत्मा के सम्बन्ध में सोच रहे हो। अपनी निम्नतम जीवाणु की अवस्था से लेकर मनुष्य शरीर तक इस सारी जीवन-शृंखला पर नजर डालो। वह सब किसने बनाया ? स्वयं तुम्हारी इच्छा-शक्ति ने। क्या तुम उसकी सर्वशक्तिमत्ता को अस्वीकार कर सकते हो ? जिसने तुम्हें इतने ऊँचे तक उठाया, वह तुम्हें और भी ऊँचा ले जा सकती है। आवश्यकता है चारित्र्य की, इच्छा-शक्ति को सबल बनाने की।'' हमारी शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिए कि हमारी इच्छा-शक्ति सबल बने और उसके माध्यम से हम चरित्र का उन्नयन कर सकें।

हमारी शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य का निर्माण करना होना चाहिए। सारी शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य मनुष्य का विकास करना है। जिस प्रशिक्षण से मनुष्य की इच्छा-शक्ति का प्रकाश फलदायी हो, वही शिक्षा है। हम मनुष्य बनाने वाले सिद्धान्त ही चाहते हैं।

शिक्षा का उद्देश्य केवल नौकरी प्राप्त करना नहीं होना चाहिए। नौकरी को शिक्षा का उद्देश्य मानने वाले छात्रों को सम्बोधित करते हुए वे कहते हैं—''तुम्हारी शिक्षा का उद्देश्य क्या है ? या तो मुन्शीगीरी मिलना या वकील हो जाना या अधिक-से-अधिक डिप्टी मजिस्ट्रेट बन जाना, मुन्शीगीरी का ही दूसरा रूप है—बस यही न ? इससे तुमको या तुम्हारे देश को क्या लाभ होगा ? आँखें खोलकर देखो, जो भरतखण्ड अन्न का अक्षय भण्डार रहा है, आज वहीं उसी अन्न के लिए कैसी करुण पुकार उठ रही है। क्या तुम्हारी शिक्षा इस अभाव की पूर्ति करेगी ? वह शिक्षा जो जनसमुदाय को जीवन-संग्राम के उपयुक्त नहीं बनाती, जो उनकी चारित्र्य-शक्ति का विकास नहीं करती, जो उनमें भूत-दया का भाव और सिंह का साहस पैदा नहीं करती, क्या उसे भी हम 'शिक्षा' का नाम दे सकते हैं ?''

शिक्षा द्वारा छात्रों में श्रद्धा की निष्पत्ति होनी चाहिए। स्वामीजी श्रद्धा को बहुत महत्त्व देते हैं और भारतीय शिक्षा-प्रणाली में 'श्रद्धा' के अभाव से वे दुःखी थे। उनके मतानुसार श्रद्धा से समस्त जगत् क्रियाशील होता है और श्रद्धा के द्वारा ही मनुष्य के जीवन को समृद्धिशाली बनाया जा सकता है। श्रद्धा के अभाव में मनुष्य आधारविहीन हो जाता है। श्रद्धा का उन्मूलन करना मनुष्य को पतन के गर्त में ढकेलना है। आत्मज्ञान द्वारा व्यक्ति में श्रद्धा उत्पन्न होती है। आत्मज्ञान से तात्पर्य बाह्य आडम्बरपूर्ण जीवन बिताना नहीं है। केश, कमण्डल, दण्ड से कोई आत्मज्ञानी नहीं बन जाता। गिरिकन्दराओं में निवास करना भी इसके लिए आवश्यक नहीं है। तात्पर्य है अपनी अन्तर्निहित सुप्त शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करना। इसके लिए स्वयं पर दृढ़ विश्वास रखना आवश्यक है।

पाठ्यक्रम
(CURRICULUM)

एक शिक्षाशास्त्री की दृष्टि से स्वामी विवेकानन्द ने पाठ्यक्रम पर क्रमबद्ध विचार नहीं किया है। वस्तुतः उन्होंने तो शिक्षा पर भी कोई शास्त्रीय ढंग से विचार नहीं किया है। सम्पूर्ण जीवन पर विचार करते समय उन्होंने शिक्षा पर भी यत्र-तत्र अपने मत व्यक्त किए हैं और शिक्षा को सम्पूर्ण जीवन का एक अंग मानकर उस पर आध्यात्मिक दृष्टि से अद्भुत प्रेरणाप्रद सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उनके भाषणों में यदि पाठ्यक्रम की दृष्टि से देखें तो कुछ बातें स्फुट विचार के रूप में मिल जाती हैं।

हमारा पाठ्यक्रम ऐसा हो जिसमें निषेधात्मकता न हो। हमें छात्रों के समक्ष विधायक या भावात्मक विचार रखने चाहिए, न कि अभावात्मक या निषेधात्मक। देश को सफल बनाने के लिए जिन-जिन विषयों को पढ़ाने की आवश्यकता हो, वे विषय अवश्य पढ़ाए जाएँ। वेदों का अध्ययन आवश्यक है और उदात्त वैदिक मन्त्रों की मेघगर्जना द्वारा भारत में प्राण का संचार करना है। श्री रामचन्द्र, श्रीकृष्ण, महावीर हनुमान आदि के जीवन-चरित का अध्ययन करना है। ऐसी बातें पढ़ानी हैं जिनसे छात्रों में प्रबल शक्ति का संचार हो। मुरलीधर कृष्ण की अपेक्षा गीतारूपी सिंहनाद करने वाले श्रीकृष्ण की उपासना करनी है।

संगीत भी सिखाना है किन्तु वंशीनाद, खेल और करताल से देश का कल्याण नहीं होगा, अतः नगाड़े, बिगुल आदि ओजस्वी बाजों को बजाना है। कोमल संगीत को कुछ दिनों के लिए बन्द करके ध्रुपद राग की शिक्षा देनी है।

धार्मिक शिक्षा भी देनी है, किन्तु आडम्बर से दूर रहना है। मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर को स्वामीजी खिलवाड़ समझते थे। धर्म का क्रियात्मक अनुभव होना आवश्यक है। केवल बौद्धिक प्रशिक्षण से छात्रों में मनुष्यता के गुणों का प्रादुर्भाव नहीं होता, अतः विशिष्ट को जाग्रत करना आवश्यक है। विद्यालयों में किसी मत या सम्प्रदाय की शिक्षा न देकर सभी धर्मों के सारभूत तत्त्वों की जानकारी दी जानी चाहिए। प्राचीन धर्म में नास्तिक उसे कहा गया था जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता था। नये धर्म में नास्तिक वह है जो स्वयं में विश्वास नहीं करता। इसी नये धर्म को पाठ्यक्रम में स्थान मिलना चाहिए।

पाठ्यक्रम में सत्य का समावेश होना चाहिए। सत्य आत्मा का स्वभाव है। शरीर, बुद्धि या आत्मा को कमजोर बनाने वाला तत्त्व सत्य नहीं होता। सत्य में जीवन-शक्ति होती है, वह बलप्रद, पवित्र और ज्ञानस्वरूप होता है। वह शक्ति देता है, हृदय के अन्धकार को दूर करता है, स्फूर्ति देता है, प्रकाश देता है।

उपनिषदों का अध्ययन भी महत्त्वपूर्ण है। इनमें सत्य की स्थापना हुई है। भारत का दिव्य दर्शनशास्त्र फिर से पढ़ाना आवश्यक है। यह दर्शन बलप्रद, आलोकप्रद एवं सत्य को प्रकाशित करने वाला है। उपनिषदों के सत्य महान् हैं। जो सत्य महान् होता है वह सहज भी होता है। **स्वामीजी** के शब्दों में, ''और उपनिषद् शक्ति की विशाल खान हैं। उनमें ऐसी प्रचुर शक्ति विद्यमान है कि वे समस्त संसार को तेजस्वी कर सकते हैं। उनके द्वारा समस्त संसार पुनरुज्जीवित एक शक्ति और वीर्यसम्पन्न हो सकता है। वे तो समस्त जातियों को, सभी मतों को, भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के दुर्बल, दुःखी और पददलित लोगों को उच्च स्वर से स्वयं को अपने पैरों पर खड़े होने और मुक्त हो जाने के लिए कहते हैं। मुक्ति अथवा स्वाधीनता—दैहिक स्वाधीनता, मानसिक स्वाधीनता, आध्यात्मिक स्वाधीनता—यही उपनिषदों का मूल मन्त्र है।''

पाठ्यक्रम में शारीरिक प्रशिक्षण का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। शारीरिक दुर्बलता हमारे दुःखों का महत्त्वपूर्ण कारण है। इसके कारण हम आलसी बन जाते हैं, मिलकर काम नहीं कर सकते, आचरण में प्रत्येक

विचार को उतार नहीं पाते। नवयुवकों को बलवान बनाने के लिए शिक्षा में कुछ करना आवश्यक है। खेल-कूद का महत्त्व है। अत: खेल-कूद का अभ्यास होना आवश्यक है।

बालक को दुर्बल बनाने वाली कहानियों को पाठ्यक्रम में कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए। छात्रों को भाषा और साहित्य का भी अध्ययन कराना है, काव्य और कला की भी शिक्षा देनी है, किन्तु इन सबमें उन बातों पर बल देना चाहिए जो बालक को शक्तिशाली बना सकें। विदेशी भाषा की अपेक्षा स्वदेशी भाषाओं पर पहले अधिकार करना चाहिए। मातृभाषा पर अधिकार कर लेने के बाद विदेशी भाषा का अध्ययन लाभप्रद हो सकता है। भाषा और साहित्य के शिक्षण में सदा भूलों की ओर ही संकेत नहीं होना चाहिए।

पाठ्यक्रम परिवर्तनशील होना चाहिए। विद्यार्थी की आवश्यकता का ध्यान रखा जाए और तदनुसार शिक्षा में परिवर्तन होना चाहिए। पाठ्यक्रम ऐसा हो जो बालक को सदा आगे बढ़ने की प्रेरणा दे। किन्तु पाठ्यक्रम को सदा उच्च नैतिकता एवं उदात्त आदर्शों से युक्त तो होना ही चाहिए। उसके द्वारा हृदय को सुसंस्कृत बनाने की प्रेरणा मिले। हमारे पाठ्यक्रम में अतीत, वर्तमान और भविष्य किसी की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। **स्वामीजी** के शब्दों में, ''अतीत में जो कुछ भी हुआ है, वह सब हम ग्रहण करेंगे, वर्तमान ज्ञान-ज्योति का उपभोग करेंगे, और भविष्य में आने वाली बातों को ग्रहण करने के लिए हृदय के सारे दरवाजों को खुला रखेंगे। अतीत के ऋषियों को प्रणाम, वर्तमान के महापुरुषों को प्रणाम और जो-जो भविष्य में आएँगे, उन सबको प्रणाम।''

स्वामी विवेकानन्द प्रचलित शिक्षा से असन्तुष्ट थे। अत: ऐसी शिक्षा प्रदान करना चाहते थे जिससे शरीर, मन और हृदय का विकास हो सके। इस निमित्त उन्होंने प्राविधिक, औद्योगिक और व्यावसायिक शिक्षा देने का विचार प्रस्तुत किया था। उनका विश्वास था कि ये शिक्षाएँ—विद्यार्थियों को आत्मनिर्भर बनाकर बेकारी से बचाएँगी और दैनिक जीवन की समस्याओं को हल करने में सहायता प्रदान करेंगी।

स्वामी विवेकानन्द के गुरुदेव श्री रामकृष्ण देव परमहंस जी प्राय: कहा करते थे कि 'खाली पेट धर्म नहीं होता'। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार, ''वर्तमान शिक्षा पद्धति में कुछ अच्छी बात अवश्य है किन्तु उनकी अपेक्षा बहुत भयंकर दोष भी है। वर्तमान शिक्षा पद्धति केवल क्लर्क तैयार करने का यन्त्र मात्र है।''

अत: उन्होंने क्लर्क बनने से बचाने और पेट को खाली न रखने हेतु ही प्राविधिक, तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा प्रदान करने की आवश्यकता का अनुभव किया था। स्वामी विवेकानन्द ने इसी उद्देश्य से अपने आश्रम के विद्यालयों में व्यावसायिक शिक्षा, उद्योगों एवं कृषि शिक्षा की स्थापना की थी, परन्तु इनके शिक्षा-दर्शन में इस शिक्षा के विस्तृत पाठ्यक्रम का कहीं भी संकेत नहीं मिलता है।

स्वामी विवेकानन्द ने पाठ्यक्रम का कोई संगठित स्वरूप नहीं प्रस्तुत किया है। उन्होंने दार्शनिकता की पृष्ठभूमि पर ही अपनी शिक्षा का पाठ्यक्रम निश्चित किया है। उनके विचारों से यह स्पष्ट होता है कि वे शिक्षा द्वारा मनुष्य को लौकिक एवं पारलौकिक दोनों जीवनों के लिए तैयार करना चाहते थे।

लौकिक जीवन की तैयारी के लिए पाठ्यक्रम में भाषा (मातृभाषा, प्रादेशिक भाषा, संस्कृत और अंग्रेजी), कला (संगीत एवं अभिनय), इतिहास, भूगोल, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, गणित, गृहविज्ञान, मनोविज्ञान, विज्ञान तकनीकी (कल-पुर्जों की शिक्षा), उद्योग कौशल, कृषि और व्यावसायिक शिक्षा, खेलकूद, व्यायाम, समाजसेवा कार्य और राष्ट्र-सेवा कार्यों को स्थान देते थे। पारलौकिक जीवन अर्थात् आध्यात्मिकता की प्राप्ति के लिए धर्म और दर्शन (विशेषकर हिन्दू धर्म एवं वेद, वेदान्त तथा उपनिषदों का ज्ञान), पुराण तथा उपदेश श्रवण, कीर्तन, धर्मगीत (भजन), साधु-संगति एवं ध्यान के महत्त्व को स्वामीजी ने स्वीकार किया और इन सबका ज्ञान आवश्यक माना है। स्वामी विवेकानन्द व्यापक पाठ्यक्रम के हिमायती थे तथा विश्व के सभी विषयों को अपने पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक ढंग से स्थान देना चाहते थे।

शिक्षण-विधि
(METHOD OF TEACHING)

स्वामी विवेकानन्द की तत्कालीन शिक्षण-विधि में कोई आस्था नहीं थी। उनके अनुसार ज्ञान की प्राप्ति का केवल एक ही मार्ग है और वह है 'एकाग्रता'। मन की एकाग्रता द्वारा ही शिक्षण हो सकता है, किसी अन्य विधि द्वारा नहीं। रसायनशास्त्री अपनी प्रयोगशाला में मन की सारी शक्तियों को एकाग्र करके ही सफलता प्राप्त करता है, ज्योतिषी एकाग्रता द्वारा ही दूरदर्शी यन्त्र के माध्यम से तारागणों का निरीक्षण करता

है। ''चाहे विद्वान अध्यापक हो, चाहे मेधावी छात्र हो, चाहे अन्य कोई भी हो, यदि वह किसी विषय को जानने की चेष्टा कर रहा है तो उसे उपर्युक्त प्रथा से ही काम लेना पड़ेगा।''

शैक्षिक उपलब्धियाँ एकाग्रता की मात्रा पर निर्भर हैं। एकाग्रता जितनी अधिक होगी—ज्ञान भी उतना ही अधिक प्राप्त होगा। एकाग्रचित्त होकर चर्मकार जूता अच्छा साफ करेगा, रसोइया भोजन अच्छा बनाएगा, अर्थोपार्जक पैसा अधिक कमाएगा, ईश्वरोपासक आराधना अधिक अच्छी करेगा।

मनुष्य और पशु में भेद ही एकाग्रता को लेकर है। पशु में यह शक्ति कम होती है, मनुष्य में अधिक। निम्नतर मनुष्य में यह शक्ति कम है और उच्चतम पुरुष में अधिक। मनुष्यों में भेद इसी शक्ति के आधार पर है।

शिक्षा की सफलता इसी पर निर्भर है। कला, संगीत आदि में कुशलता का आधार ही एकाग्रता है। एकाग्रता शिक्षा की कुंजी है। छात्र का मन यदि इधर-उधर भटकता रहेगा तो उसके हाथ कुछ नहीं लगेगा। इस समय छात्रों की शक्ति बहुत नष्ट हो रही है। ध्यान का अभ्यास करने से मानसिक एकाग्रता प्राप्त होगी। विषय-सामग्री का संग्रह शिक्षा नहीं है, एकाग्रता का विकास शिक्षा है। एकाग्रता ऐसा साधन या यन्त्र है जिसकी पूर्णता प्राप्त हो जाने पर बालक इच्छानुसार अनेक विषयों का संग्रह स्वतः कर सकता है।

एकाग्रता की शक्ति प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। ब्रह्मचर्य से बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त होती है। वासनाओं को वश में करना चाहिए। काम-शक्ति को आध्यात्मिक शक्ति में रूपान्तरित कर देना चाहिए। ब्रह्मचर्य से स्मृति-शक्ति का विकास होता है, प्रबल कार्य-शक्ति प्राप्त होती है, अमोघ इच्छा-शक्ति का विकास होता है, मानव जाति पर अद्भुत प्रभुता मिल जाती है और पवित्रता का भाव जाग्रत होता है। अतः बालकों को ब्रह्मचर्य का अभ्यास करना चाहिए।

सीखने में स्वाभाविकता का महत्त्व है,' अतः बालक में ज्ञान को ठूँसना नहीं चाहिए। उसे पर्याप्त स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। अनुचित दबाव नहीं डालना चाहिए। बालक को सिंह बनने दीजिए, उसे बहुत अधिक परतन्त्र न बनाइए। बालक को सुधारने का या सिखाने का दम्भ व्यर्थ है। उसे स्वाधीन करिए और उसे स्वयं सीखने के लिए प्रेरित करिए। **स्वामीजी** के शब्दों में, ''तुम किसी बालक को शिक्षा देने में उसी प्रकार असमर्थ हो, जैसे कि किसी पौधे को बढ़ाने में। पौधा अपनी प्रकृति का विकास आप ही कर लेता है। बालक भी अपने आपको शिक्षित करता है। पर हाँ, तुम उसे अपने ही ढंग से आगे बढ़ने में सहायता दे सकते हो। तुम जो कुछ कर सकते हो, वह निषेधात्मक ही होगा, विधिआत्मक नहीं। तुम केवल बाधाओं को हटा सकते हो और बस ज्ञान अपने स्वाभाविक रूप से प्रकट हो जाएगा। जमीन को कुछ पोली बना दो ताकि उसमें से उगना आसान हो जाए। उसके चारों ओर घेरा बना दो और देखते रहो कि कोई उसे नष्ट न कर दे। उस बीज से उगते हुए पौधे की शारीरिक बनावट के लिए तुम मिट्टी, पानी और समुचित वायु का प्रबन्ध कर सकते हो, और बस यहीं तुम्हारा कार्य समाप्त हो जाता है। वह अपनी प्रकृति के अनुसार जो भी आवश्यक हो, ले लेगा। वह अपनी प्रकृति से ही सबको पचा बैठेगा। बस ऐसा ही बालक की शिक्षा के बारे में है। बालक स्वयं अपने आपको शिक्षित करता है।''

स्वामीजी द्वारा समर्थित शिक्षण-विधि में पुस्तकीय शिक्षा की प्रधानता नहीं है। केवल पुस्तकों के अध्ययन को वे शिक्षा मानने को तैयार नहीं थे। पुस्तकों का अध्ययन किया जाए पर इस प्रकार नहीं जिस प्रकार आजकल किया जाता है। पुस्तकों को पढ़ने से यदि एकाग्रता नहीं विकसित होती, शिक्षा का विकास यदि नहीं होता और छात्रों में आत्मविश्वास यदि नहीं जाग्रत होता तो उन्हें पढ़ाना व्यर्थ है।

स्वामी विवेकानन्द का विचार था कि विद्यार्थी अनुकरण द्वारा अधिक सीखते हैं। स्वामीजी कहते हैं कि ''अध्यापक के व्यक्तिगत प्रभाव के बिना कोई शिक्षा सम्भव नहीं है।'' इसलिए वे गुरुगृह में गुरु के सानिध्य में शिक्षा देने की बात कहते हैं। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार, ''छात्र अपनी बाल्यावस्था से ही ऐसे गुरु के साथ रहें जिसका चरित्र जाज्वल्यमान हो और छात्रों के सामने उच्चतम त्याग का उदाहरण हो।''

स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जब तक छात्र अपने गुरु के गुणों, चरित्र एवं ज्ञानोपदेश का अनुकरण करके अपना जीवन भी उसी के समान नहीं बनाता तो उसकी शिक्षा पूरी नहीं होती है। स्वामी विवेकानन्द ने श्रद्धा एवं विवेक से अनुकरण विधि के प्रयोग पर बल दिया है। यह ध्यान रहे कि अनुकरण के स्थान पर अन्धानुकरण नहीं होना चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द व्यक्तिगत समस्याओं के समाधानार्थ निर्देशन एवं परामर्श को एक उत्तम पद्धति मानते थे। इस विधि से जहाँ एक ओर पारस्परिक सम्बन्ध दृढ़तम होते थे वहीं दूसरी ओर सहयोग की भावना द्वारा कार्य सरलता एवं मितव्ययिता से समाप्त हो जाता था। इसके अतिरिक्त गुरु के आध्यात्मिक परिपक्व व्यक्तित्व से अपरिपक्व व्यक्तित्व वाला छात्र भी पूर्णतया लाभान्वित होता था। आधुनिक युग में निर्देशन कार्य में व्यक्तिगत निर्देशन होना आवश्यक है, लेकिन इसका रूप प्राचीन वैयक्तिक निर्देशन की भाँति नहीं है क्योंकि दोनों के लक्ष्य भिन्न हैं।

स्वामी विवेकानन्द भ्रमण को अत्यन्त उपयोगी विधि मानते हैं। उनका विचार है कि भ्रमण से सम्पर्क, ज्ञान, अनुभव एवं निरीक्षण शक्ति बढ़ती है तथा इसी विधि द्वारा समाज-सेवा एवं विश्वबन्धुत्व की भावना का विकास किया जा सकता है। इसलिए जन-शिक्षा हेतु उन्होंने संन्यासियों को द्वार-द्वार पर जाकर शिक्षा देने का उपदेश दिया था।

क्रिया की विधि खेल-कूद, शारीरिक शिक्षा एवं अन्य उद्योग, शिल्प और कौशलों की शिक्षा के लिए आवश्यक है। यदि इन विषयों को पाठ्यक्रम में रखा गया है तो उन्हें पढ़ाने के लिए इस विधि का प्रयोग भी होगा। व्यावहारिक विधि विज्ञान, गृहविज्ञान, तकनीकी विषय, कृषि जैसे पाठ्य-विषय में प्रयुक्त होगी।

शिक्षक एवं शिष्य
(TEACHER AND PUPIL)

स्वामीजी के अनुसार शिक्षा 'गुरु-गृह-वास' है। शिक्षक के व्यक्तिगत जीवन के बिना शिक्षा नहीं हो सकती। शिक्षक का चरित्र अग्नि के समान प्रकाशमान हो। उसे उच्चतम आदर्शों की सजीव मूर्ति होना है। उसे ज्ञान के दान के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए। ज्ञान का दान बिना त्याग के नहीं हो सकता, अतः उसे त्यागी भी होना चाहिए।

शिक्षक को छात्र के प्रति सहानुभूति रखनी चाहिए। शिष्य में सारी शक्ति लगा देने वाला ही सच्चा गुरु है। एक अच्छा शिक्षक अपने को शिष्य के स्तर पर लाकर अपनी आत्मा को शिष्य की आत्मा में प्रविष्ट कर देता है।

स्वामीजी ने शिक्षक के तीन विशेष गुण बताए हैं। प्रथम गुण है—उसका शास्त्र-ज्ञान। अच्छा शिक्षक शास्त्रों के मर्म को जानता है, वह शब्दों के परे अर्थ को जानता है। दूसरा गुण है—निष्पापता। उसे हृदय और मन से पवित्र होना चाहिए। चित्त की शुद्धता के बिना वह छात्रों में आध्यात्मिक शक्ति का संचार नहीं कर सकता। तीसरा गुण यह है कि शिक्षक को धन, नाम या यश सम्बन्धी स्वार्थसिद्धि के लिए धर्म-शिक्षा नहीं देनी चाहिए। अतः गुरु में त्यागभाव आवश्यक है।

शिक्षक में अपने शिष्यों के प्रति प्रेम होना चाहिए। जिस शिक्षक के हृदय में छात्र के लिए प्रेम नहीं उमड़ता वह छात्र को कुछ भी शिक्षा नहीं दे सकता। प्रेम के संचार में लोभ नहीं आना चाहिए और न ही स्वार्थ। प्रेम केवल शिष्य को निर्देशित करने के लिए हो। ऐसे शुद्ध प्रेम से आध्यात्मिकता जाग्रत होती है।

स्वामीजी ने शिष्य के लिए भी कुछ आवश्यक गुण बताए हैं। शिष्य में शुद्धता, विचार, वाणी और कर्म की पवित्रता होनी चाहिए। उसमें ज्ञान की पिपासा होनी चाहिए। जिज्ञासु ही वास्तविक शिष्य है। छात्र में लगन के साथ परिश्रम करने की इच्छा व शक्ति होनी चाहिए। शिष्य में जिज्ञासा ही वह मूल चाह है जिससे वह ज्ञान प्राप्त करता है। हम वही पाते हैं जो चाहते हैं। शिष्य के हृदय में उच्च आदर्शों के लिए व्याकुलता होनी चाहिए।

शिष्य को गुरु में अटूट विश्वास होना चाहिए। गुरु के प्रति विश्वास, नम्रता, विनय और श्रद्धा के बिना छात्र शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता। गुरु के प्रति श्रद्धा तो हो किन्तु शिष्य में स्वतन्त्र चिन्तन की भी शक्ति होनी चाहिए। स्वामीजी कहते हैं—''जिन देशों में इस प्रकार के गुरु-शिष्य सम्बन्ध की उपेक्षा हुई है, वहाँ धर्मगुरु एक वक्ता मात्र रह गया है—गुरु को मतलब रहता है अपनी 'दक्षिणा' से और शिष्य को मतलब रहता है गुरु के 'शब्दों' से, जिन्हें वह अपने मस्तिष्क में ठूँस लेना चाहता है। यह हो गया तो बस दोनों अपना-अपना रास्ता नापते हैं। पर यह भी सत्य है कि किसी के प्रति अन्धी भक्ति से मनुष्य की प्रवृत्ति दुर्बलता और व्यक्तित्व की उपासना की ओर झुकने लगती है। अपने गुरु की पूजा ईश्वर-दृष्टि से करो, पर उनकी आज्ञा का पालन आँखें मूँदकर न करो। प्रेम तो उन पर पूर्ण रूप से करो, परन्तु स्वयं भी स्वतन्त्र रूप से विचार करो।''

विद्यालय एवं अनुशासन
(SCHOOL AND DISCIPLINE)

स्वामी विवेकानन्द के विद्यालय सम्बन्धी विचार बहुत ही सीमित रूप में प्राप्त होते हैं। उन्होंने यदि शिक्षा को 'गुरु वास' की संज्ञा दी तो निश्चय ही विद्यालय 'गुरुगृह' होगा। गुरुगृह (विद्यालय) कैसा हो, इसके विषय में केवल कल्पना की जा सकती है जिसका आधार अध्यापक का गुण है। यदि अध्यापक पवित्र है, शुद्ध हृदय एवं विचार वाला है, अच्छे आचरण एवं व्यवहार वाला है, अच्छे स्वास्थ्य और मन वाला है तो निःसन्देह उसका वास स्थल उस वातावरण से पूर्ण होगा जिससे उपर्युक्त गुणों का विकास सम्भव हो सके। शुद्ध वायु से पूरित, शान्त, सुखद एवं सुरम्य स्थल में और आध्यात्मिक विकास में सहायक वातावरण का विद्यालय होना चाहिए। प्राचीन परम्परानुसार स्वामीजी ने विद्यालय को 'मठ' के साथ जोड़ा है परन्तु उनके साथियों (रामकृष्ण मिशन के कार्यकर्ताओं) ने आधुनिक विद्यालय को जहाँ उचित स्थान मिला वहाँ स्थापित किया है। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द के अनुसार विद्यालय व्यक्ति के शारीरिक, बौद्धिक, भावात्मक एवं आध्यात्मिक विकास के केन्द्र हैं।

स्वामी विवेकानन्द का विचार था कि बालकों को शिक्षा देने में दण्ड का प्रयोग न करके सहानुभूति का प्रयोग किया जाए। स्वामीजी गुरु एवं शिष्य दोनों में आत्मानुशासन को आवश्यक मानते हैं। उनका विचार है कि गुरु स्वयं अनुशासित रहे तभी उनके व्यवहार और आचरण से प्रभावित होकर छात्र भी अनुशासित रहेंगे। यहाँ गुरु के प्रति आदर्शवादी, प्रभावात्मक अनुशासन देखने को मिलता है। स्वामीजी छात्रों को दण्डित करने के प्रबल विरोधी थे। वे बालकों को उनकी प्रकृति के अनुरूप शिक्षा देने की बात कहते हैं। यहाँ स्वामीजी मुक्त्यात्मक अनुशासन के समर्थक मालूम पड़ते हैं किन्तु जहाँ वे छात्र को गुरु की आज्ञा का पालन एवं शीशनमन की अनिवार्यता बताते हुए कहते हैं कि ''पहले आज्ञा पालन करो आज्ञा देना स्वयं आ जाएगा। पहले सेवक बनना सीखो, एक योग्य गुरु (स्वामी) हो जाओगे।''

स्वामी विवेकानन्द ने समाज सेवा के लिए जोर दिया है, अतएव समाज में अनुशासित व्यवहार की आवश्यकता ऐसी स्थिति में पड़ती है और व्यक्ति अपने ऊपर नियन्त्रण रखता है। इस विचार से व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों प्रकार के अनुशासन को स्थापित करने के लिए स्वामीजी का विचार है। सन् 1897 ई. में स्वामीजी ने 'रामकृष्ण मिशन' संघ की स्थापना की थी, उसके सामने जनसेवा और समाज सेवा का आदर्श था। इस संघ से सेवाव्रतियों के सामने 'आत्मनो मोक्षार्थ जगत्हिताय च'—अपनी मुक्ति तथा जगत का हितरूप युगल आदर्श स्थापित है।''

स्त्री-शिक्षा
(WOMEN EDUCATION)

वास्तव में यदि गम्भीरता के साथ देखा जाय तो यही ज्ञात होगा कि भारत के पतन और अवनति का एक प्रमुख कारण स्त्रियों की अशिक्षा है। इसका अनिवार्य फल यह हुआ कि जो जाति सभी प्राचीन जातियों में सर्वश्रेष्ठ थी वही आज पृथ्वी की समस्त जातियों में तुच्छ समझी जाने लगी। यथार्थ शक्तिपूजा का आविष्कार तथा विवेचन सर्वप्रथम हमारे देश के ही पूर्वजों ने किया था, आज हमीं लोग स्त्रियों के अनादर के प्रत्यक्ष दृष्टान्त स्वरूप हो गये हैं। प्रत्येक भारतीय हिन्दू को चाहिए कि अपने समस्त ज्ञान को स्त्री और पुरुष में समान रूप से वितरित करें। स्त्री-शिक्षा से ही हिन्दू जाति का महान् लाभ सम्भव है, क्योंकि विस्तार ही जीवन है तथा संकीर्णता ही मृत्यु है, प्रेम ही जीवन है और घृणा ही मृत्यु है। अतः प्रत्येक भारतीय हिन्दू को जीवित रहने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने सीमित ज्ञान को असीमित लोगों में प्रचार करे। प्राचीन काल में विवाह बहुत कम आयु में ही माता-पिता कर दिया करते थे और अपने कर्त्तव्य से मुक्त हो जाते थे। बाल-विवाह सदैव हानिकारक सिद्ध होते हैं, क्योंकि बाल-विवाह के कारण वर्तमान समय में अधिकांश हिन्दू परिवारों में विधवाओं की समस्या दिखाई देती है। इसका कारण बाल्यावस्था में ही शादी करना होता है, क्योंकि बाल्यावस्था में लड़के-लड़की को यह भी ज्ञान नहीं होता कि वे समाज के भावी निर्माता हैं और उनको किस प्रकार की सन्तान उत्पन्न करनी चाहिए जो कि लाभकारी हो। इस कारण पुरुष का शारीरिक स्वास्थ्य बिगड़ने पर और उसकी शीघ्र ही मृत्यु होने पर पत्नी विधवा हो जाती है। इसके साथ बाल-विवाह से जनसंख्या की भी समस्या उत्पन्न होती है जो कि आगे चलकर खाद्य-पदार्थ आदि की भी समस्या उत्पन्न कर देती है। किसी अबोध बालिका पर मातृत्व का भार डालना ही क्या धर्म है। स्त्री-पुरुष का विवाह, ज्ञान, आत्मविश्वास, परिश्रम आदि मानवीय गुणों के विकास के बाद ही अधिक उचित रहता है। लड़कों तथा

लड़कियों दोनों को ही पुस्तकीय शिक्षा के अलावा चरित्र की भी शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए, जिससे समाज में सदाचार का वातावरण सदैव ही बना रहे। इससे उनके मानसिक बल की वृद्धि होकर बौद्धिक विकास होता है तथा उन्हें अपने पाँवों पर खड़े होने की भी शक्ति प्राप्त होती है।

भारतीय नारी की पवित्रता तथा सतीत्व बहुमूल्य निधि है जो उसे अतीत काल से प्राप्त हुई है। इसीलिए वह उसे स्वभावतः समझती है। सर्वप्रथम हमको इनमें इस आदर्श के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा एवं भक्ति उत्पन्न करनी चाहिए। यदि वे इस आदर्श पर दृढ़ हो गईं तो इसके परिणामस्वरूप उनका चरित्र इतना बलवान तथा दृढ़ होगा कि वे उसके प्रभाव से अपने प्राणों की आहुति देकर भी अपनी पवित्रता की तथा सतीत्व की रक्षा करना अपना धर्म समझेंगी। जहाँ तक ब्रह्मचर्य व्रत का प्रश्न है, स्त्री प्रत्यक्ष उदाहरण से एवं राष्ट्रीय आदर्श का पालन करके ब्रह्मचर्य व्रत को भी निभा सकती है। उसके उच्च प्रयत्नों को देखकर लोगों के विचारों एवं आकांक्षाओं में महान् क्रान्ति उपस्थित होगी। वास्तव में यदि हम वर्तमान विचारधारा के प्रवाह को बदल सकें, तो जनता में फिर उस पुरातन श्रद्धा के जाग्रत होने की कुछ आशा की जा सकती है। यदि हम सभी नवयुवक और युवतियाँ विवाह देरी से करने के व्रत का पालन करें तो हम जान सकते हैं कि हममें कितना आत्मविश्वास होगा। श्रद्धा, आत्मविश्वास एवं आत्मबल जगाने का उपाय केवल यही है कि प्रत्येक नवयुवक और युवती सुशिक्षित तथा सुसंस्कृत बने। जनता इस प्रकार शिक्षित होने पर स्वयं ही अपना हानि-लाभ समझकर कुरीतियों को निकालकर बाहर करेगी। वैसे, इस समय तो भारतीय सरकार ने भी बाल-विवाह, बहुविवाह आदि पर कानूनी रोक लगा दी है।

वर्तमान कन्याएँ ही भविष्य की माताएँ तथा जननी होंगी। प्रत्येक भारतीय भगवान राम और माता सीता को ही अपना आदर्श मानते हैं। आदर्श भारतीय जननी के गुण पवित्रता, भक्ति तथा सर्वसहिष्णुता हैं। भारतीय तथा पाश्चात्य नारी के जीवन में महान् ध्रुवीय अन्तर है क्योंकि भारतीय नारी की महानता दुःखों को सहन करने की शक्ति है जबकि पाश्चात्य सभ्यता कहती है कि तुम यन्त्र की भाँति कार्य में लगी रहो तथा अपनी शक्ति का परिचय कुछ भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त करके दिखाओ तथा अधिक-से-अधिक धन-सम्पत्ति के संग्रह में गर्व करो। इसके विपरीत, भारतीय आदर्श हमें अपनी आवश्यकताएँ सीमित रखने की ही प्रेरणा देता है। जहाँ तक भारतीय नारी का प्रश्न है, उसमें सावित्री की भाँति सतीत्व होता है जो यमराज से अपने पति को जिन्दा करवा लेती है।

स्त्री शक्ति की सजीव प्रतिमा है। मनु ने कहा है—''जहाँ स्त्रियों का आदर होता है, वहाँ देवता प्रसन्न रहते हैं और जहाँ उनका आदर नहीं होता वहाँ सारे कार्य और प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं।'' स्त्रियों की अनेक समस्याओं का समाधान शिक्षा द्वारा ही हो सकता है। स्त्रियों की शिक्षा का केन्द्र कर्म हो। धार्मिक शिक्षा—चरित्र गठन और ब्रह्मचर्य पालन—इन्हीं पर अधिक ध्यान देना चाहिए। भारतीय स्त्री का आदर्श सीता का चरित्र होना चाहिए। उन्हें त्याग की शिक्षा दी जाए।

आधुनिक युग में नारियों को आत्मरक्षा के उपायों को भी सीखना चाहिए। संघमित्रा, लीलावती, अहिल्याबाई, मीराबाई, झाँसी की रानी के आदर्शों को अपनाकर स्त्रियों को पवित्रता, निर्भयता और ईश्वर परायणता के गुणों का अभ्यास करना चाहिए। समय आने पर उन्हें आदर्श माता बनना चाहिए। शिक्षित और धार्मिक माताओं के ही घर में महापुरुष जन्म लेते हैं। स्त्रियों की उन्नति से संस्कृति, ज्ञान और भक्ति का देश में जागरण हो जायेगा।

स्त्रियों को शिक्षा-कार्य भी अपने हाथ में लेना चाहिए। **स्वामीजी** कहते हैं—''सुशिक्षिता और सच्चरित्रवती ब्रह्मचारिणियाँ शिक्षा-कार्य का भार अपने ऊपर लें। ग्रामों और शहरों में केन्द्र खोलकर स्त्री-शिक्षा के प्रचार का प्रयत्न करें। ऐसी सच्चरित्र निष्ठावान उपदेशिकाओं के द्वारा देश में स्त्री-शिक्षा का यथार्थ प्रचार होगा। इतिहास और पुराण, गृह-व्यवस्था और कला-कौशल, गृहस्थ जीवन के कर्त्तव्य और चरित्र-गठन के सिद्धान्तों की शिक्षा देनी होगी। और दूसरे विषय, जैसे सींना-पिरोना, गृह-कार्य नियम, शिशु-पालन आदि भी सिखाये जायेंगे। जप, पूजा और ध्यान शिक्षा के अनिवार्य अंग होंगे। दूसरे गुणों के साथ उन्हें शूरता और वीरता के भाव भी प्राप्त करने होंगे।''

जनसमूह की शिक्षा
(EDUCATION OF MASSES)

जनसमुदाय के प्रति स्वामीजी के हृदय में अपार स्नेह था। गरीबों की दशा देखकर उनका हृदय विदीर्ण हुआ जा रहा था। उनका मत था कि जब तक असंख्य मनुष्य भूख और अज्ञान में जीवन बिता रहे हैं तब तक किसी भी व्यक्ति को चैन से नहीं बैठना चाहिए। जनसमूह की अवहेलना करना महान् राष्ट्रीय पाप है।

भारत की उन्नति का आधार जनसाधारण में शिक्षा और बुद्धि का प्रसार होना है। मुट्ठी भर लोगों के हाथों में बुद्धि का एकाधिपत्य नहीं होना चाहिए। निम्न वर्ग के लोगों की सबसे बड़ी सेवा यह है कि उनको शिक्षित किया जाए और उनके समक्ष विचारों को रखा जाए।

आध्यात्मिक सत्य पर कुछ मनुष्यों को ही अधिकार नहीं रहना चाहिए। आध्यात्मिकता के रत्न मठों और आरण्यों में छिपे हुए हैं। वहाँ से निकालकर बाहर लाना होगा। ये रत्न शास्त्र-ग्रन्थों में छिपे हुए हैं। ये शास्त्र-ग्रन्थ संस्कृत भाषा में हैं जिस तक पहुँच सब व्यक्तियों की नहीं है। अत: हमें इस गौरवमयी संस्कृत भाषा के ग्रन्थों से रत्नों को लेकर जनता की भाषा में इनका प्रचार करना चाहिए। लोगों की बोलचाल की भाषा में शिक्षा दी जाये। आध्यात्मिकता की बातें भी मातृभाषा के माध्यम से समझायी जायें।

किन्तु मातृभाषा के साथ-साथ संस्कृत की शिक्षा भी चलनी चाहिए। संस्कृत शब्दों की ध्वनि में ही हमारी जाति की प्रतिष्ठा है। संस्कृत शब्दों से बल और शक्ति प्राप्त होती है। गौतम बुद्ध ने संस्कृत-शिक्षा को बन्द करके भूल की थी। 'पाली' के माध्यम से वे तात्कालिक परिणाम प्राप्त करने में तो समर्थ हुए, किन्तु जिस ज्ञान का उन्होंने प्रचार किया उसमें प्रतिष्ठा नहीं थी। उसका प्रचार बहुत हुआ। संस्कृत भाषा में निबद्ध भावों को जनता की भाषा में रूपान्तरित करके उन भावों को बुद्ध ने संसार में द्रुत-गति से फैलाया, किन्तु इसके साथ ही संस्कृत की शिक्षा भी चलनी चाहिए थी।

हमारा राष्ट्र झोंपड़ियों में बसता है। झोंपड़ियों तक सत्य का प्रचार होना चाहिए। उनकी अवस्था सुधारने के लिए शास्त्रों की बातों को सरलतापूर्वक समझना चाहिए। सदियों से ऊँची जाति वालों ने, राजाओं और विदेशियों ने निम्न वर्ग पर अत्याचार किये हैं। इनकी शक्ति नष्ट हो गई है। उपनिषदों के 'मैं आत्मा हूँ' जैसे वाक्यों के सहारे इन्हें ऊपर उठाना है।

जनसाधारण को व्यावहारिक शिक्षा दी जानी चाहिए। उन्हें कृषि की शिक्षा मिलनी चाहिए, क्योंकि भारत एक कृषि-प्रधान देश है और कृषि की उन्नति पर ही देश की उन्नति निर्भर है। जीवन के लिए आवश्यक विषयों की शिक्षा प्रदान करना समाज का कर्त्तव्य है। वाणिज्य-व्यापार की शिक्षा की भी समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।

जनसमूह की शिक्षा के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है—उनकी दरिद्रता। यदि नि:शुल्क पाठशाला प्रत्येक गाँव में खोल भी दी जाए तो गरीब बालक उसमें जा नहीं सकता, क्योंकि उसे पेट पालने के लिए खेती में अपने पिता की सहायता करनी है। पर यदि गरीब बालक पाठशाला तक नहीं आ सकते तो पाठशाला को उन तक पहुँचना है। यदि पहाड़ मुहम्मद के पास नहीं आता तो मुहम्मद ही पहाड़ के पास क्यों न ज़ाए। स्वामीजी का विचार था कि सहस्रों संन्यासियों को धर्मोपदेश के साथ-साथ नैतिक विषयों का भी शिक्षक नियुक्त कर दिया जाए और उन्हें संगठित करके शिक्षा-कार्य में जुटा दिया जाए। **स्वामीजी** कहते हैं—''मान लो, इनमें से मनुष्य सन्ध्या समय किसी गाँव में अपने साथ मैजिक लैण्टर्न, दुनिया का गोला और कुछ नक्शे आदि लेकर गए तो वे अनजान मनुष्यों को बहुत-सा ज्योतिष और भूगोल सिखा सकते हैं। भिन्न-भिन्न देशों की कहानियाँ बताकर वे गरीबों को जन्म भर में पुस्तकों के द्वारा जो जानकारी प्राप्त होती, उससे कहीं सौ गुना अधिक कानों के द्वारा सिखा सकते हैं। आधुनिक विज्ञान की सहायता से उनके ज्ञान को प्रज्ज्वलित कर दो। उन्हें इतिहास, भूगोल, विज्ञान और साहित्य पढ़ाओ और इन्हीं के साथ-साथ एवं इन्हीं के द्वारा धर्म के गम्भीर सत्यों की भी शिक्षा दो।''

उच्च वर्ग के लोग अब निम्न वर्ग को दबाकर नहीं रख सकते। निम्न वर्ग में शिक्षा का प्रसार होना अब आवश्यक है। काम बड़ा है, पर यह कार्य हृदय के माध्यम से सम्पन्न होगा। हृदय महाशक्ति का द्वार है। प्रेम से सभी बाधाएँ दूर हो जाती हैं। अनुभव की शक्ति होनी चाहिए। पहले हृदय से अनुभव करो, फिर कर्त्तव्य-पथ का निश्चय करो। उपाय करो। उपाय के लिए दृढ़ लगन चाहिए। विघ्न-बाधाओं पर विजय पाने के लिए दृढ़ संकल्प और सत्य पर अडिग आस्था चाहिए। हृदयवान बनकर, कर्त्तव्य-पथ का निश्चय करके लगन एवं दृढ़ता को अपनाकर बड़े-से-बड़ा काम किया जा सकता है। **स्वामीजी** के शब्दों में, ''आओ हममें से प्रत्येक, दिन और रात उन करोड़ों पददलित भारतीय के लिए प्रार्थना करें, जो गरीब, पुरोहितों के छल और नाना अत्याचारों द्वारा जकड़े हुए हैं। उन्हीं के लिए दिन-रात प्रार्थना करो। मैं उच्च और धनिकों की अपेक्षा उनको उपदेश देने की अधिक चिन्ता करता हूँ। मैं दार्शनिक नहीं हूँ, तत्त्ववेत्ता नहीं हूँ और कोई सन्त भी नहीं हूँ। परन्तु मैं दरिद्र हूँ और दरिद्रों को प्यार करता हूँ।''

स्वामीजी का नवयुवकों को सन्देश
(MESSAGE OF SWAMIJI TO THE YOUTHS)

स्वामीजी ने युवकों से कहा कि ''तुम्हें हिन्दू होने पर गर्व करना चाहिए। जब मनुष्य अपने आपको घृणा करने लग जाता है, तब समझना चाहिए कि उस पर अन्तिम चोट बैठी है। जब वह अपने पूर्व पुरुषों को मानने को लज्जित होता है, तो समझ लो कि उसका विनाश निकट है। मैं यद्यपि हिन्दू जाति में नगण्य व्यक्ति हूँ तथापि अपनी जाति और अपने पूर्व पुरुषों के गौरव से अपना गौरव अनुभव करता हूँ। अपने को हिन्दू बताते हुए हिन्दू कहकर परिचय देते हुए मुझे एक प्रकार का गौरव-सा होता है। मैं तुम लोगों का एक तुच्छ सेवक होने में अपना गौरव समझता हूँ।''

''तुम्हारे अन्दर जो कुछ है, अपनी शक्तियों द्वारा उनका विकास करो पर कभी दूसरों का अनुसरण करके नहीं। हाँ, दूसरों के पास अगर कुछ अच्छा हो तो उसे ग्रहण कर लो। औरों के पास से तो हमें कुछ सीखना होगा। औरों से उत्तम बातें सीखकर उन्नत बनो। जो सीखना नहीं चाहता वह तो पहले ही मर चुका है।''

''नीच व्यक्ति की सेवा करके भी श्रेष्ठ विद्या सीखने का प्रयत्न करो। चाण्डाल द्वारा भी श्रेष्ठ धर्म की शिक्षा ग्रहण करो। औरों के पास जो कुछ पाओ सीख लो, उसे अपने साँचे में ढाल लेना होगा—दूसरों की शिक्षा ग्रहण करते समय उसके ऐसे अनुगामी न बनो कि अपनी स्वतन्त्रता गँवा बैठो।''

स्वामीजी युवकों को अमृत सन्देश देते हुए आगे कहते हैं—''तुम्हें ध्येयवादी युवक होना चाहिए। मनुष्य को केवल मनुष्यों की आवश्यकता है। और सब कुछ हो जायेगा किन्तु आवश्यकता है—वीर्यवान, तेजस्वी, पूर्ण प्रामाणिक नवयुवकों की। मेरी आशाएँ इस नवोदित पीढ़ी में—आधुनिक पीढ़ी में केन्द्रित हैं। उसी में से मेरे कार्यकर्त्ता निर्मित होंगे। तुम सब अपने में यह विश्वास रखो कि प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान है। बस तभी तुम सारे भारत को पुनर्जीवित कर सकोगे फिर तो हम दुनियाँ के सभी देशों में जायेंगे और हमारे भाव उन अनेक शक्तियों के अंश स्वरूप हो जायेंगे, जिनके द्वारा संसार का प्रत्येक राष्ट्र ऊपर उठ रहा है। वेदों में कहा है—''तरुण, बलशाली, स्वस्थ एवं तीव्र मेधा वाले ही ईश्वर के पास पहुँचते हैं।'' तुम्हारे भविष्य को निश्चित करने का यही समय है। इसलिए मैं कहता हूँ कि अभी इस भरी जवानी में, इस नये जोश के जमाने में ही काम करो। काम करने का यही समय है। इसलिए अपने भाग्य का निर्णय कर लो और काम में लग जाओ क्योंकि जो फूल बिल्कुल ताजा है, जो हाथों से मसला नहीं गया है और जिसे सूँघा नहीं गया है, वही भगवान के चरणों पर चढ़ाया जाता है, उसे ही भगवान ग्रहण करते हैं।''

''अपने पैरों पर आप खड़े हो जाओ, देर न करो, क्योंकि जीवन क्षण अस्थायी है। वकील-बैरिस्टर बनने की अभिलाषा ही जीवन की सर्वोच्च अभिलाषा नहीं है। इससे ऊँची अभिलाषा रखो और अपनी जाति, देश, राष्ट्र और मानव समाज के कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग करना सीखो। जीवन की अवधि अल्प है, परमात्मा अजर, अमर, अनन्त है और मृत्यु अनिवार्य है। इसीलिए आओ, हम अपने आगे एक महान् आदर्श खड़ा करें और उसके लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दें।''

''तभी और केवल तब ही तुम हिन्दू कहलाने के अधिकारी हो जब इस नाम को सुनते ही तुम्हारी रगों में शक्ति विद्युत तरंग दौड़ जाए। जब इस नाम को धारण करने वाला प्रत्येक व्यक्ति वह चाहे जिस देश का हो, वह चाहे तुम्हारी भाषा बोलता है या अन्य कोई, प्रथम मिलन में ही तुम्हारा सगे-से-सगा तथा प्रिय-से-प्रिय बन जाए। किसी व्यक्ति का दु:ख-दर्द तुम्हारे हृदय को इस प्रकार व्याकुल कर दे मानो तुम्हारा पुत्र संकट में हो।''

''तभी और केवल तभी हिन्दू कहलाने के अधिकारी हो सकोगे जब तुम उनके लिए सब-कुछ सहने को तत्पर रहोगे। उन महान् गुरु गोविन्द सिंह के समान जिन्होंने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए अपना रक्त बहाया, रणक्षेत्र में अपने लाड़ले बेटों को बलिदान होते देखा।''

''यदि तुम अपने देश का कल्याण करना चाहते हो तो तुम में से प्रत्येक को गुरु गोविन्दसिंह बनना होगा। भले ही तुम्हें अपने देशवासियों में सहस्रों दोष दिखायी दें पर ध्यान रखना कि उनमें हिन्दू रक्त है। यदि वह तुम्हें धक्का देकर बाहर कर दे तब भी तुम कहीं दूर जाकर उस शक्तिशाली सिंह—गोविन्दसिंह के समान मृत्यु की गोद में चुपचाप सो जाना। ऐसा ही व्यक्ति हिन्दू कहलाने का वास्तविक अधिकारी है, यही आदर्श सदैव हमारे सामने रहना चाहिए।''

आधुनिक शिक्षा में स्वामीजी की प्रासंगिकता
(RELEVANCE OF SWAMIJI IN MODERN EDUCATION)

जिस प्रकार स्वामीजी का जीवन-दर्शन विस्तृत और समन्वयवादी है, उसी प्रकार उनका शिक्षा दर्शन भी है। वे वर्तमान शिक्षा प्रणाली के कटु आलोचक और व्यावहारिक शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। जिसकी आजकल की परिस्थितियों में अत्यन्त आवश्यकता है। आज जबकि भारत या पूरा विश्व मूल्यों को खो देने के कगार पर है हमें विवेकानन्द की आध्यात्मिक शिक्षा की ही आवश्यकता है।

प्रचलित शिक्षा के स्थान पर स्वामीजी भारत के लिए किस प्रकार की शिक्षा चाहते हैं, इस सम्बन्ध में उनके निम्नलिखित शब्द उल्लेखनीय हैं—''हमें उस शिक्षा की आवश्यकता है, जिसके द्वारा चरित्र का निर्माण होता है, मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है, बुद्धि का विकास होता है और मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो पाता है। '' आज नवयुवकों में उत्तम चरित्र के निर्माण की अत्यन्त आवश्यकता है।

स्वामीजी शिक्षा के क्षेत्र में बालिकाओं को बालकों के समान शिक्षा देने के पक्ष में थे। इस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था से वर्तमान में हो रहे बालिकाओं के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार को काफी सीमा तक रोका जा सकता है।

स्वामीजी के अनुसार शिक्षा से व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक व आत्मिक विकास होना चाहिए, परन्तु आजकल की शिक्षा इस उद्देश्य को पूर्ण नहीं करती है। स्वामीजी के अनुसार उसे ही सच्ची शिक्षा कहा जाना चाहिए जिससे चरित्र का गठन हो, मन का बल बढ़े, बुद्धि का विकास हो और मनुष्य स्वावलम्बी बने।

आजकल का परिवेश ऐसा है कि लोग अपने धर्म और धर्म में निहित सत्य को भूलते जा रहे हैं, जबकि धर्म के द्वारा ही व्यक्ति में आत्मविश्वास, आत्मश्रद्धा, आत्मनियन्त्रण, आत्मनिर्भरता, आत्मत्याग, मानवता, सहयोग एवं प्रेम तथा विश्व-बन्धुत्व की भावना का विकास होता है। स्वामीजी ने इसके लिए धार्मिक शिक्षा को आवश्यक बताया है। उनके अनुसार धार्मिक शिक्षा पुस्तकों से नहीं वरन् व्यवहार, आचरण और संस्कारों द्वारा दी जानी चाहिए। विवेकानन्द चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति उस सत्य अथवा धर्म को मालूम कर सके जो उसके अन्दर छिपा है।

आज जबकि सम्पूर्ण संकीर्ण राष्ट्रीयता तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना का विकास करना चाहिए। **स्वामीजी** के अनुसार, ''जो शिक्षा देश भक्ति की प्रेरणा नहीं देती वह राष्ट्रीय शिक्षा नहीं कही जा सकती।'' 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में स्वामीजी विश्वास करते थे। इस भावना का विकास वे विश्व-बन्धुत्व प्रदायी शिक्षा द्वारा करते थे। उनका विश्वास था कि इसी भावना के द्वारा विद्यार्थियों के मन में ये भाव जगाये जा सकते हैं कि चींटी से लेकर मानव तक सभी में एक-सी आत्मा विद्यमान है। विश्व के सभी जीव एक ही ईश्वर की सन्तान है। शिक्षा द्वारा वे यह बोध कराना चाहते थे कि ''विश्व के प्रति हमारा बहुत बड़ा कर्त्तव्य है। हम उसके ऋणी हैं, वह हमारा ऋणी नहीं है। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि हमें विश्व के प्रति कुछ करने का अवसर मिल सके।

भारत की अनेक समस्याओं के मूल में यदि कोई समस्या है तो वह है अशिक्षा। आज भारत में सार्वभौमिक तथा जनशिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है जिसके बारे में स्वामीजी ने आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व ही सोच लिया था। स्वामी विवेकानन्द भारतीय जनता को अशिक्षित, पददलित एवं भूखी देखकर बहुत ही दु:खी थे। उन्होंने ऐसी जनता की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु जनशिक्षा एवं सार्वभौमिक शिक्षा की महती आवश्यकता का अनुभव करते हुए लिखा है कि ''मैं जनसाधारण की उपेक्षा को महान् राष्ट्रीय पाप समझता हूँ। यह हमारी अवनति का एक बड़ा कारण है। राजनीति की कोई भी यात्रा किसी काम की नहीं होगी जब तक कि भारत में जनसाधारण को फिर से अच्छी तरह शिक्षित नहीं किया जाता, अच्छी तरह भोजन नहीं दिया जाता और अच्छी तरह सुरक्षित नहीं किया जाता। यदि हम भारत को पुन: जीवित करना चाहते हैं तो हमें जनसाधारण के लिए कार्य करना चाहिए। स्वामीजी का दृढ़ विश्वास है कि यदि जनशिक्षा का सम्यक् ढंग से प्रचार एवं प्रसार किया जाएगा तो निश्चय ही भारत का नागरिक जगेगा, उन्नति करेगा और भारत का भविष्य उज्ज्वल बनेगा।

स्वामीजी ने प्राचीन गुरु-नमस्कार परम्परा को व्यापक रूप देते हुए 'गुरु: साक्षात् परमेश्वर: तस्मै श्री गुरुवे नम:' को 'शिष्य:, साक्षात् ब्रह्म:, गुरु: साक्षात् परमेश्वर तस्मै शिष्याय नम: गुरुवे नमश्च' के रूप में

माना है। यही वेदान्तीय आदर्श है। इसमें गुरु और शिष्य दोनों को उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया है। यहाँ दोनों के बीच आत्मीय और आध्यात्मिक सम्बन्ध दर्शाया गया है। इस प्रकार की स्थिति में जब गुरु विद्यार्थी से 'त्वमसि' कहेगा तो विद्यार्थी इस बात की अनुभूति करने लगेगा कि 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं स्वयं ब्रह्म हूँ। ऐसी अनुभूति से उसमें आध्यात्मिक पूर्णता आएगी और उसे सच्चे ज्ञान की प्राप्ति होगी। स्वामीजी द्वारा अनुभूत ऐसे ही गुरु-शिष्य सम्बन्ध की आज महती आवश्यकता है।

स्वामीजी मनसा-वाचा-कर्मणा आत्मानुशासन के ही प्रबल समर्थक थे। वे गुरु एवं शिष्य दोनों में आत्मानुशासन को आवश्यक मानते हैं। उनका विचार था कि गुरु स्वयं अनुशासित रहें तभी व्यवहार से प्रभावित होकर छात्र भी अनुशासित रहेंगे। इनका यह अनुशासन वर्तमान सामाजिक और वैयक्तिक कल्याण का प्रबल सहायक सिद्ध हो सकता है।

आज नवयुवकों के समक्ष सबसे मुख्य समस्या बेरोजगारी की है। नवयुवकों के पास विभिन्न शैक्षिक डिग्रियाँ होने पर भी रोजगार नहीं है। इसका हल स्वामीजी ने आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व ही खोज लिया था। इस सम्बन्ध में स्वामीजी ने कहा था कि ''उच्च शिक्षा के बजाय यदि तकनीकी शिक्षा प्रदान की जाए, तो लोग रोटी पा सकेंगे तथा नौकरी-नौकरी की चिल्लाहट से बचकर समाज में रचनात्मक योग दे सकेंगे।'' उनका यह कथन वर्तमान समय में भी कितना प्रासंगिक है।

स्वामीजी विवेकानन्द ने सच्ची शिक्षा की उपलब्धि हेतु मन की एकाग्रता को सर्वोत्तम पद्धति माना है। एकाग्रचित्त व्यक्ति ही एकाग्रचित्त होंगे, उनकी शिक्षा ग्रहण शक्ति भी उतनी ही अधिक स्थायी होगी। आज शिक्षा की दुर्दशा का मूल कारण शिक्षा जगत् में एकाग्रता की कमी है। इसी के फलस्वरूप अनेक अनैतिक कार्यों—नकल, भ्रष्टाचार, छुरेबाजी आदि को बढ़ावा मिल रहा है और शिक्षा का स्तर दिन-प्रतिदिन गिरता जा रहा है।

स्वामीजी ने नारी शिक्षा की महती आवश्यकता बताकर उन्हें सजग एवं विवेकी बनाने का बीड़ा उठाया। उन्होंने प्रश्न उठाया कि जब वेदान्तों में यह प्रतिपादित है कि विश्व के प्रत्येक प्राणी में एक ही आत्मा का वास है वो फिर नारियों को हेय दृष्टि से देखने की बात कहाँ ? उन्होंने अनुभव किया कि शारीरिक अन्तर होते हुए भी नर-नारी दोनों समान हैं। अत: समाज में नारी की शिक्षा की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। यह बात आज भी समझी जा रही है कि नारी की शिक्षा की कितनी आवश्यकता है।

आज जब व्यक्ति जीवन में भ्रान्ति और क्लेश से पीड़ित है, जब समाज—भ्रष्टाचार, दुराचार और अत्याचार की व्याधियों से ग्रस्त है, जब राजनीति मनुष्य के जीवन को उभारने सँवारने के बजाय नष्ट-भ्रष्ट कर रही है, जब विज्ञान मनुष्य की समृद्धियों को बढ़ाने के बजाय हवा, पानी तथा पृथ्वी पर जहर के बीज बो रहा है तब हमें निश्चय ही इस बात का पूरी तरह चिन्तन एवं मनन करना होगा कि किस तरह हमें इस स्थिति से मुक्ति मिल सकती है। शिक्षा ही वह माध्यम है जिसकी सहायता से हम मानव को किसी विशेष दिशा में ले जा सकते हैं। इसलिए वर्तमान परिस्थिति में स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक विचारों का अध्ययन एक आवश्यक चिन्तन बन गया है।

उपसंहार

(स्वामीजी के शिक्षा-दर्शन का सिंहावलोकन)

स्वामीजी ने शिक्षा की व्यापक एवं आधुनिक परिभाषा दी है। उन्होंने कहा—''शिक्षा व्यक्ति में अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति है।'' यह वेदान्त दर्शन पर आधारित विचार है। इसका अर्थ है कि मानव में ईश्वरीय पूर्णता पायी जाती है। इसी पूर्णता की अभिव्यक्ति का नाम शिक्षा है। अर्थात् शिक्षा द्वारा व्यक्ति अपने अन्दर निहित पूर्णता के ज्ञान की अनुभूति करता है यह सब लौकिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान मनुष्य के भीतर होता है, इसकी अभिव्यक्ति ही शिक्षा है। वे पुस्तकीय शिक्षा को शिक्षा नहीं मानते क्योंकि इसमें बालक को जबरन कुछ सिखाया जाता है, इससे उसकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है, यह यन्त्रवत् बन जाता है फलत: उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है। इसीलिए वे स्वाधीनता को विकास की पहली शर्त मानते हैं। जिस प्रकार बीज को कोई उगा नहीं सकता, केवल उगाने में उसकी मदद कर सकता है, उसी प्रकार बालक अपना विकास स्वयं करता है। यह आज के मनोवैज्ञानिक युग में अक्षरश: सत्य है। स्वामीजी सच्ची शिक्षा उसे मानते हैं जिससे चरित्र का निर्माण हो, व्यक्ति आत्मनिर्भर बने तथा मानव जीवन की उन्नति से सम्बन्धित कार्य हो।

जो विभिन्न विषयों की जानकारी रखते हुए भी महान् अमानवीय कार्य करे उसे स्वामीजी शिक्षित नहीं मानते। इसके साथ ही वे उसे निषेधात्मक शिक्षा मानते हैं, जिस शिक्षा से बालक का विकास अवरुद्ध हो जाए। माता-पिता अथवा शिक्षक के सदैव बालक के पीछे लगे रहने से उनमें निषेधात्मक भाव उत्पन्न होते हैं फलतः उनमें श्रद्धा का घोर अभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति मृत प्रायः हो जाता है।

शिक्षा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा कि आज पाश्चात्य देशों की उन्नति का प्रमुख कारण शिक्षा ही है शिक्षित व्यक्ति अपनी तमाम समस्याओं का समाधान स्वयं ही कर लेता है जबकि अशिक्षित व्यक्ति तमाम सुविधाओं से वंचित रह जाता है। इसलिए भारतवासियों की उन्नति हेतु शिक्षा की सर्वसुलभ व्यवस्था किये जाने की महती आवश्यकता है।

स्वामीजी प्रायः कहा करते थे—''आज हमें आवश्यकता है—आध्यात्मयुक्त पाश्चात्य विज्ञान की।'' इस प्रकार वे मानवीय वेदान्त एवं पाश्चात्य विज्ञान का एक समन्वयवादी दृष्टिकोण उपस्थित करना चाहते थे। वे शिक्षा द्वारा विज्ञान और आनन्द की प्राप्ति कराना चाहते थे। जिससे व्यक्ति की सर्वांगीण प्रगति हो सके। वे जीवन की भौतिक एवं आध्यात्मिक इन दो मौलिक समस्याओं को सुलझाना—शिक्षा का उद्देश्य मानते हैं। वेदान्त दर्शन द्वारा आध्यात्मिक एवं भौतिक मूल्यों के अद्भुत समन्वय का सुझाव प्रस्तुत किया। संक्षेप में वे मानव निर्माणकारी शिक्षा-दर्शन का प्रतिपादन करना चाहते थे।

स्वामीजी भारतीय समाज में व्याप्त समस्याओं के प्रति जागरूक थे तथा उन्हें सुलझाने का यथासम्भव प्रयास करते थे। उन्होंने भारत की गरीबी, कमजोरी, अज्ञानता, अकर्मण्यता, आत्म-विश्वासहीनता, चरित्र-हीनता जैसी प्रमुख समस्याओं का कारण अशिक्षा को ही माना है। वे दलितों, गरीबों तथा निम्न वर्ग के लोगों की दशा से अत्यन्त क्षुब्ध थे। उन्होंने भारत की पतनावस्था का मुख्य कारण जन-सामान्य की शिक्षा की अवहेलना को माना है। इसीलिए उन्होंने नवयुवकों का आह्वान किया और कहा—यदि राष्ट्र का पुनर्निर्माण करना है तो गाँव-गाँव, घर-घर जाकर सोये हुए लोगों को शिक्षा देकर उन्हें जाग्रत करो क्योंकि यदि पहाड़ मुहम्मद के पास न जाए तो मुहम्मद को ही पहाड़ के पास जाना चाहिए। इस प्रकार उन्होंने लोक शिक्षा का एक नवीन आदर्श उपस्थित किया।

देश अथवा राष्ट्र की उन्नति स्त्री शिक्षा पर ही निर्भर करती है। वे कहते थे—जिस घर या देश की स्त्रियाँ उदासीन या दुःखी जीवन व्यतीत करती हैं, वह घर तथा राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। उन्हें शिक्षित करना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है। एक शिक्षित स्त्री अपना कार्य जिम्मेदारी एवं कुशलतापूर्वक निभाती है उन्हें शिक्षित कर सीता, उर्मिला, सावित्री आदि के समान तैयार करना है। उन्हें लौकिक तथा धार्मिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिए। वे शहर-शहर तथा गाँव-गाँव स्त्री शिक्षा केन्द्र खोलकर उन्हें शिक्षित करना चाहते हैं। वे संरक्षकों को भी शिक्षित करना चाहते हैं क्योंकि शिक्षित संरक्षक अपने बच्चों की उत्तम से उत्तम शिक्षा की व्यवस्था करता है तथा बच्चों में विधायक विचारों का प्रादुर्भाव होने देता है।

स्वामीजी ने राष्ट्रीय जीवन को सर्वश्रेष्ठ माना है। अतः शिक्षा द्वारा लोगों में राष्ट्रीय गुण विकसित करना चाहिए। राष्ट्रीय गुणों से युक्त व्यक्ति ही हँसते-हँसते अपने हृदय का रक्त देश के कल्याणार्थ बहा देने हेतु सदैव उद्यत रहता है। व्यक्ति में राष्ट्र भक्ति तथा देश भक्ति की भावना तब तक प्रबल न होगी जब तक उसकी अज्ञानता तथा गरीबी मिटाने हेतु शिक्षा की अनिवार्य व्यवस्था न हो। उन्होंने लोगों से राष्ट्रीय भावना विकसित करने हेतु रामकृष्ण मिशन, मठ, अद्वैत आश्रम आदि की स्थापना की। राष्ट्रीयता की भावना के साथ वे लोगों में मानवीय दृष्टिकोण भी विकसित करना चाहते थे। उन्होंने विश्व के लोगों में वेदान्त दर्शन के माध्यम से विश्वबन्धुत्व, विश्व मैत्री का प्रचार-प्रसार बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय किया तथा उसे स्थायी स्वरूप देने हेतु वेदान्त सोसाइटी की स्थापना विश्व के कई देशों में की।

पाश्चात्य देशों की उन्नति का प्रमुख कारण उन्होंने तकनीकी और औद्योगिक शिक्षा को माना है। वे भारत की प्रचलित शिक्षा प्रणाली बदलकर उसके स्थान पर जीविकोपार्जन प्रदान करने वाली शिक्षा की व्यवस्था करना चाहते थे। उनके अनुसार वर्तमान शिक्षा व्यवस्था लोगों को नौकरीपरक व बेरोजगार बना रही है। अतः उन्होंने पाश्चात्य विज्ञान अर्थात् व्यावसायिक, तकनीकी, औद्योगिक तथा यान्त्रिक शिक्षा दी जानी चाहिए। इससे भारतवासी आत्म-निर्भर बनेंगे तथा विश्व के विकसित देशों की भाँति अपना विकास कर सकेंगे।

वे शिक्षा द्वारा लोगों के चरित्र-निर्माण के पक्ष में थे। क्योंकि एक चरित्रवान व्यक्ति अनुशासित एवं आत्मनिर्भर होता है। वे कहते थे—हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है—जिससे चरित्र का निर्माण हो। स्वामीजी शिक्षा के माध्यम से लोगों का शारीरिक विकास करना चाहते थे। क्योंकि जो व्यक्ति शरीर से सबल है वह सब कार्य करने में सक्षम है। वह अपनी उन्नति कर सकता और दूसरे की मदद भी। उनके अनुसार 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम् तथा नायमात्मा बलहीनेनलभ्य:' अर्थात् धर्म साधना का आधार शरीर ही है, जो व्यक्ति शरीर से निर्बल है वह आत्मज्ञान नहीं कर सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामीजी समाज के विभिन्न वर्गों की शिक्षा की उत्तम व्यवस्था देने वाले शिक्षाविदों में सर्वश्रेष्ठ है।

पाश्चात्य देशों की भौतिक उन्नति से प्रभावित होकर स्वामीजी भारतीय नवयुवकों को धार्मिक शिक्षा के साथ पाश्चात्य विज्ञान की शिक्षा देकर उन्हें आर्थिक रूप से सम्पन्न बनाना चाहते थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा—आज हमें आवश्यकता है वेदान्तयुक्त पाश्चात्य विज्ञान की। स्वामीजी पाठ्यक्रम के अन्तर्गत आध्यात्मिक भौतिक दोनों प्रकार के विषयों को रखना चाहते थे। आध्यात्मिक। धार्मिक शिक्षा देने के सम्बन्ध में उनकी मान्यता थी—कोरी भौतिक अथवा लौकिक शिक्षा से व्यक्ति में मानवीय मूल्यों का ह्रास होता है फलत: वह जड़ हो जाता है। दूसरा कारण यह है कि धर्म शिक्षा का मेरुदण्ड है तथा भारत की प्रमुख शक्ति है। अत: व्यक्ति को उदार बनाने तथा उनमें मानवीय मूल्य विकसित करने हेतु धार्मिक शिक्षा अवश्य दी जानी चाहिए। पाश्चात्य विज्ञान पढ़ाये जाने के सम्बन्ध में उनका तर्क था—भारत की प्रधान आवश्यकता है—रोटी। अत: यहाँ के लोगों को रोजगारपरक शिक्षा देने के लिए उन्हें पाश्चात्य विज्ञान अर्थात् तकनीकी, औद्योगिक एवं यान्त्रिक शिक्षा दिये जाने की महती आवश्यकता है। इसलिए दोनों प्रकार के विषयों को पाठ्यक्रम में रखा जाना चाहिए। वे मातृभाषा के माध्यम से विषयों के पढ़ाने के पक्ष में थे क्योंकि निजी भाषा से सीखना सहज होता है। संस्कृत की शिक्षा इसलिए आवश्यक है क्योंकि उसमें हमारी संस्कृति की थाती निहित है। इसके साथ ही इस भाषा से व्यक्ति में शक्ति एवं क्षमता आती है। अंग्रेजी भाषा इसलिए पाठ्यक्रम में रखे जाने का सुझाव दिया क्योंकि वह भाषा पाश्चात्य विज्ञान सीखने में उपयोगी है। विभिन्न कलाओं की शिक्षा चरित्र-निर्माण एवं शारीरिक शिक्षा को भी पाठ्यक्रम का अभिन्न अंग बनाया। तभी तो स्वामीजी द्वारा व्यक्त पाठ्यक्रम आध्यात्मिक, लौकिक कलात्मक, रुचिकर, व्यावहारिक, उपयोगी है। संक्षेप में इसे सर्वांगपूर्ण पाठ्यक्रम कहा जा सकता है।

विविध प्रकार के ज्ञानार्जन हेतु उन्होंने आधुनिक मनोवैज्ञानिक शिक्षण विधियों के प्रयोग का सुझाव दिया। एकाग्रता को प्रमुख शिक्षण-विधि बताते हुए उन्होंने प्रायोगिक, स्वाध्याय, मनन एवं चिन्तन, व्याख्यान, वाद-विवाद, प्रश्नोत्तर, पर्यटन, कहानी, तुलनात्मक, वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक आदि अन्यान्य शिक्षण विधियों को उपयोगी बताया। स्वामीजी के शिक्षा-दर्शन में उन प्रगतिशील एवं आधुनिक शिक्षण-विधियों के प्रयोग का सुझाव मिलता है जिनका प्रयोग आज अनिवार्य रूप से शिक्षालयों में शिक्षण-विधियों के रूप में किया जा रहा है।

भारतीय संस्कृति के पुनरुज्जीवन हेतु वे शैक्षिक संस्थाओं का विकास प्राचीन भारतीय गुरुकुल प्रणाली को नवीन परिवेश देकर करना चाहते थे। वे कहते थे—'शिक्षा का अर्थ है, गुरुगृहवास।' उनकी मान्यता थी कि उच्च चरित्रयुक्त जाज्वल्यमान शिक्षकों के सानिध्य में रहकर ही वास्तविक शिक्षा छात्रों को मिलती है। ऐसी स्थिति में वे विषय का सम्यक ज्ञान भी प्राप्त करते हैं और अनुशासित भी रहते हैं। वे धार्मिक शिक्षा के केन्द्र खोलकर नवयुवकों को शिक्षित कर गाँव-गाँव, घर-घर भेजकर जनसामान्य को सदाचार की शिक्षा देना चाहते थे। वे धर्म-निरपेक्ष, सिद्धान्त पर विद्यालयीय व्यवस्था के पक्ष में थे।

स्वामीजी ऐसे गुरुओं के पक्ष में थे जिनके जीवन का सिद्धान्त—आत्मनोमोक्षार्थ जगद्धिताय च हो। ऐसे गुरुओं के सानिध्य में छात्रों का विकास उसी प्रकार होता है, जैसे बसन्त ऋतु पेड़-पौधों और लताओं से बदले में कुछ न चाहते हुए भी सभी पेड़-पौधों में नया जीवन डाल देती है जिससे वे हरे-भरे हो जाते हैं, उनमें नयी कोपलें निकल आती हैं, शिक्षक का स्वभाव व व्यवहार अपने छात्रों के साथ ऐसा ही होना चाहिए। स्वामीजी दो प्रमुख दान—जीवन दान और शिक्षा दान में से विद्यादान—को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। उनके अनुसार गुरु-शिष्य का सम्बन्ध पिता-पुत्र जैसा होना चाहिए। शिक्षण प्रक्रिया में गुरु तथा शिष्य दोनों को योग्य होना चाहिए। वे कहते हैं—गुरु तो लाखों मिलते हैं, पर शिष्य एक भी पाना कठिन है। छात्र अपने गुरु को परामर्शदाता, दार्शनिक, सुहृद और पथ-प्रदर्शक के रूप में अंगीकार करे। शिष्य के लिए गुरु करना

आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। एक अच्छा ब्रह्मचारी, ज्ञान-पिपासु, सहनशील, धीर, पवित्र, श्रद्धालु, परिश्रमी एवं शारीरिक रूप से सुदृढ़ आदि गुणों से युक्त होता है।

स्वामीजी मूल्यांकन की प्रचलित प्रणाली के प्रबल विरोधी थे। उनका मन्तव्य था कि प्रचलित शिक्षा प्रणाली छात्रों को रट्टू तोता बना रही है जबकि रटने से छात्र की तार्किक शक्ति का ह्रास होता है। यह पद्धति अमनोवैज्ञानिक है। इस प्रचलित बुरी परिपाटी को समाप्त किया जाना चाहिए तथा उसके स्थान पर शिक्षक द्वारा वर्ष में दो या तीन बार आन्तरिक मूल्यांकन की व्यवस्था की जानी चाहिए। इससे छात्र को शैक्षणिक एवं व्यवहारिक दोनों पक्षों का मूल्यांकन सरलता से एवं साथ-साथ होता जाएगा। ऐसी व्यवस्था होने पर ये न केवल पढ़ने हेतु बाध्य होंगे अपितु शालीनता के साथ व्यवहार भी करेंगे।

निष्कर्षत: शिक्षा के प्रति भारतीय दृष्टिकोण रखने वाले, भारतीय संस्कृति के अनन्य पोषक, समग्र क्रान्ति के अग्रदूत, नव भारत का निर्माण करने वाले, शिक्षा में राष्ट्रवाद का प्रबल समर्थन करने वाले स्वामी विवेकानन्द जी ने अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली का प्रबल विरोध करके और उसके स्थान पर एक नवीन शिक्षा प्रणाली : वैदान्तिक साम्यवाद : की भविष्यवाणी की। उनका मानव निर्माणकारी शिक्षा दर्शन शिक्षा की व्यापक एवं आधुनिक परिभाषा प्रस्तुत करना है, मानव की आध्यात्मिक व्याख्या करता है तथा भारतीय एवं पाश्चात्य वेदान्त एवं विज्ञान का समन्वयवादी दृष्टिकोण लोगों के समक्ष प्रस्तुत करता है।

अभ्यास-प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. स्वामी विवेकानन्द के जीवन पर एक निबन्ध लिखिए।
2. उनका वेदान्त दर्शन बताइए।
3. स्वामीजी के भारत के सम्बन्ध में क्या विचार थे ?
4. स्वामीजी के अनुसार शिक्षा का क्या उद्देश्य होना चाहिए ?
5. स्वामीजी के अनुसार शिक्षण-विधि का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. स्वामीजी के धर्म सम्बन्धी विचार क्या थे ?
2. शिक्षा का स्वरूप क्या है ?
3. स्वामीजी के अनुसार पाठ्यक्रम का विश्लेषण कीजिए।
4. शिक्षक एवं शिष्य कैसा होना चाहिए ?
5. स्त्री शिक्षा पर स्वामीजी के विचार लिखिए।
6. जनसमूह की शिक्षा का क्या तात्पर्य है ?
7. नवयुवकों को स्वामीजी का क्या सन्देश है ?
8. स्वामीजी के शिक्षा-दर्शन का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

1. रामकृष्ण मिशन की स्थापना कब हुई थी ?

(अ) 1880 (ब) 1897

(स) 1899 (द) 1905. **उत्तर—(ब)**